"उर्वशी" - विवाद : मूल्य और मूल्यांकन

(एम.फिल. उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध)

शोध निर्देशक
प्रो० केदारनाथ सिंह

शोधकर्ता
अधीर कुमार

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 110067
1996

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI - 110067

दिनाक: 19-7-96

प्रमाण - पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री अधीर कुमार द्वारा प्रस्तुत "उर्वशी - विवाद : मूल्य और मूल्यांकन " शीर्षक लघु शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त शोध-सामग्री का इस विश्वविधालय अथवा किसी अन्य विश्व-विधालय में इसके पूर्व किसी भी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया ।

यह लघु शोध-प्रबन्ध श्री अधीर कुमार की मौलिक कृति है।

अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहर लाल नेहरु विश्वविधालय
नई दिल्ली - 110067

प्रो 0 केदारनाथ सिंह
शोध निर्देशक
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहर लाल नेहरु विश्व-
विधालय
नई दिल्ली - 110067

GRAM : JAYENU TEL : 667676, 667557 TELEX : 031-73167 JNU IN FAX : 91-011-6865886

विषय-सूची

		पृष्ठ संख्या
	भूमिका	1 - 3
1.	प्रवेश-प्रस्ताव	4 - 18
2.	विमर्श - 1 (स्वरूप और विस्तार)	19 - 38
3.	विमर्श - 2 (उर्वशी का मिथक)	39 - 57
4.	विमर्श - 3 (उर्वशी की भाषा)	58 - 76
	उपसंहार	77 - 81
	परिशिष्ट	82 - 85

भूमिका

भूमिका

'उर्वशी'-विवाद को केन्द्र में रखते हुए आधुनिक हिन्दी-कविता की आलोचना में हो रहे मूल्यगत परिवर्तनों को समझने का प्रयास है यह लघु शोध-प्रबन्ध। स्कूल के शुरुआती दिनों में ही 'दिनकर' की कविताएं पढ़ा करता था। प्रत्येक शनिवार को सभी शिक्षकों और लड़के-लड़कियों का साथ-साथ बैठना हुआ करता था। नियमित कार्यक्रम के तहत एक-एक को गाने या कविता पढ़ने को कहा जाता था। मुझे गाने की तमीज़ न तब थी, न अब ही है। 'दिनकर' और 'प्रसाद' जी की कविताओं का पाठ मैं किया करता था। यह मैं कर पाता था क्योंकि पिताजी 'पाठ' के उपयुक्त कविताएं चुनकर उन्हें पढ़ने और याद करने के लिए लगातार उत्साहित किया करते थे। बाद में अपने प्राध्यापक डा० रवीन्द्र उपाध्याय की प्रेरणा और प्रभाव से मैंने हिन्दी-साहित्य को आगे की पढ़ाई के लिए चुना। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में दिनकर की स्थिति को देखकर पहले से मन में बनी उस प्रभावपूर्ण छवि को चोट लगी। बार-बार मन में यह बात आती रही कि दिनकर के साथ ऐसी स्थिति क्यों है। 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' और 'कविता के नये प्रतिमान' को पढ़ते हुए बातें बहुत दूर तक खुलकर सामने आयीं। इससे पहले 'उर्वशी' पढ़ चुका था। उर्वशी के व्यक्तित्व का आकर्षण अनिवार है। यह व्यक्तित्व इतना सुन्दर है कि इसके प्रति आकर्षित होना सहज है। इस स्वाधीन सौन्दर्य को देखने-दिखाने का प्रयास अनिवार्यत: सामाजिक मूल्य-विधान की शक्ति और सीमा तक चला जाता है। सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य-प्रणाली और इसके साहित्यिक समुत्पाद के बीच का रिश्ता बहुत जटिल है। 'उर्वशी'-विवाद इन सम्बन्ध-सूत्रों को समझने में सहायक लगा। अत: एम० फिल० के लिए विषय के रूप में इसे सामने रखने की बात मन में आयी।

गुरुवर श्री केदारनाथ सिंह का स्नेह मेरा सौभाग्य है । अपने आस-पास उनकी सतत उपस्थिति के अहसास ने मेरी भटकन में भी सार्थकता की संभावना को जिलाए रखा है । इस विषय को समझने के क्रम में जब-जब असमंजस की स्थिति आयी, मैंने अपने शिक्षकों की शरण ली । प्रो० नामवर सिंह और प्रो० मैनेजर पाण्डेय से जब-जब मिला हूं, सोचने-समझने की नई दिशायें मिली हैं ।

उर्वशी मेरे लिए नारी की सम्पूर्ण सुन्दर छवि है । इसकी सुन्दरता की सम्पूर्णता का आधार इसकी स्वाधीनता है । अपने कल्पित रूप में होते हुए भी मनुष्य-मन की बनावट में इसकी निश्चित भूमिका है । साहित्य में चित्रित इस नारी-व्यक्तित्व की स्वाधीनता से जुड़ी सामाजिक संगतियों को जानने के लिए अपने आस-पास के जीवन को देखना-समझना अनिवार्य है । लड़कियों के प्रति मेरा आकर्षण स्कूल के आरम्भिक दिनों से ही रहा है । उनकी व्यवहार-प्रणाली, उनके और लड़कों के बीच बनते-बिगड़ते सम्बन्धों की यादें भी हैं और वर्तमान सम्बन्धों को भी देख-समझ रहा हूं, जी रहा हूं । अपने और स्त्री-समाज के बीच दोस्ती और दुश्मनी के जो रंग देखे हैं, उनके आधार पर उर्वशी के मिथक को समझने और व्याख्यायित करने की चेष्टा की है ।

यहां तक पहुंचने में सम्बन्धों के दूसरे सिरों पर जो सबसे साफ-साफ दिखाई देते हैं, वे हैं - मेरे दोस्त ! - मेरे दुश्मन ! ये लोग मनुष्य बनने-बनाने और मनुष्यता को कायम रखने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं । सीमा और जयन्त, मुक्ति भाई ! मृगेन्द्र भाई ! साचिन, प्रमोद, विभव, उमेश, हरि, अनिल, पंकज, कौस्तुभ, जय, मनोज और यह सूची वहां तक जाती है, जहां तक मैं अपने को महसूस करता हूं । अपने होने का अहसास इनके होने से होता है । अत: मेरा यह प्रयास इनके द्वारा सृजित संभावनाओं का ही फल है ।

15. सीमान द बोउआ — द सेकेण्ड सेक्स
पिकाडोर संस्करण
जोनाथन केप लिमिटेड
पैन बुक्स लिमिटेड
केवाय प्लेस, लन्दन
वर्तमान संस्करण - 1988

16. त्रिलोचन — काव्य और अर्थ-बोध
साहित्यवाणी
28, पुराना अल्लापुर,
इलाहाबाद - 211006
प्रथम संस्करण - 1995

पत्रिकाएं

1. कल्पना — अंक 138, 140, 141, 144 और 147
वर्ष 1963 - 1964
प्रधान सम्पादक - आर्येन्द्र शर्मा
सम्पादक मण्डल - बदरी विशाल पित्ती,
जगदीश मित्तल, गौतम राव, मुनीन्द्र
हैदराबाद से प्रकाशित

2. धर्मयुग — दिसम्बर - 1961

3. पहल — अंक - 53, सम्पादक - ज्ञानरंजन
101 - रामनगर, आधार ताल,
जबलपुर - 482004

4. माध्यम — बालकृष्ण राव
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग,
दिसम्बर 1965

मां और उसकी 'भूमिका' है - मेरे आस-पास - जे० एन० यू० की वह परिचित हवा है, जो सुनीता के साथ न होने से मुझ पर बहुत उदास गुजरी है । इस उदासी का पता अगर इस प्रयास में कहीं झलक जाय तो उसके लिए माफी चाहूंगा, क्योंकि यह मेरी चाहत का निजी रंग है ।

19.7.86

1. प्रवेश-प्रस्ताव

प्रवेश-प्रस्ताव

लघु-शोध-प्रबन्ध के विषय के रूप में 'उर्वशी-विवाद : मूल्य और मूल्यांकन' को चुनने के प्रयोजन का स्वरूप फिलहाल मेरे सामने बहुत स्पष्ट नहीं है । शोध के लिए जीवन या साहित्य का कोई प्रसंग कब, क्यों और कितना महत्वपूर्ण होकर सामने आ जाता है, इस बारे में निर्विवाद हो पाना बहुत मुश्किल है । खासकर, तब तो और भी, जब प्रसंग विवादास्पद हो । ऐसे में समय और विषय के साथ परिचय से प्रेम तक पहुंचते हुए, उद्देश्य का कोई रंग अगर स्पष्ट हो सका, तो यह शोध आप ही उसका गवाह होगा। वैसे भी, अधिकतर विवादों की परिणतियां अपने महत्व में इनकी प्रक्रिया के महत्व से कमतर साबित होती हैं । महत्वपूर्ण संघर्ष है, लब्धि नहीं ; प्रक्रिया है, परिणाम नहीं । विवादों के साहित्यिक प्रसंगों के बारे में विजयदेव नारायण साही ने लिखा है कि -'साहित्यिक विवाद औरों को चाहे जितना फिजूल लगे, लेखक के लिए तो हमेशा आकर्षक और कभी-कभी तो ज़िन्दगी और मौत के सवाल की तरह लगता है । साहित्य की गति और दिशाओं में परिवर्तन किन-किन बहावों की बाढ़ लेकर आता है और किन-किन घुमावों से रास्ता निकालता है, इसकी जानकारी अक्सर उपलब्धियों के माध्यम से ही साहित्यिक इतिहास को सजाने वालों के हाथ से निकल जाती है । अब लोगों की दिलचस्पी उन कुहराम वाली भट्ठियों में ज्यादा हो गयी है जिस में साहित्य का कच्चा माल सांचों में ढालने से पहले पिघलाया जाता है ।'[1] इन भट्ठियों की आंच का आकर्षण साहित्य से जुड़े किसी भी व्यक्ति

---

1. विजयदेव नारायण साही - छठवां दशक (भूमिका), पृ० 11

के लिए अनिवार है । इस आकर्षण के रंग व्यक्ति भेद से भिन्न-भिन्न हो सकते हैं । एक विद्यार्थी के लिए विषय की समझ को विकसित करना ही प्राथमिक उद्देश्य है । अत: इस विवाद के विस्तार से गुजरते हुए, इसमें उठाये गये मुद्दों की प्रकृति की परख की चेष्टा, और विवादी स्वरों की टकराहट के बीच सम्वादी सम्भावना की लय को छूने की कोशिश है यह ।

प्रस्तुत शोध शोध में विमर्श का आधार रामधारीसिंह `दिनकर` की प्रसिद्ध कृति `उर्वशी` को लेकर हुआ विवाद है । इसलिए यह आवश्यक है कि इस सन्दर्भ में आकार पाते हुए प्रश्नों और उनके उत्तरों तक पहुंचने की प्रक्रिया के बारे में विचार करने और इस क्रम में हिन्दी-कविता की आलोचना में हो रहे मूल्यगत परिवर्तनों को देखने समझने की कोशिश से पहले, `दिनकर` और `उर्वशी` के सामान्य परिचय को सामने रखें । दिनकर का जन्म बिहार राज्य के तत्कालीन मुंगेर (वर्तमान बेगूसराय) जिले के सिमरिया गांव में 30 सितम्बर सन् 1908 ई० को हुआ । जब ये दो वर्ष के थे तभी इन्हें पिता के स्नेह से वंचित होना पड़ा । इनकी आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा गांव में हुई । सन् 1928 ई० में इन्होंने बगल के मोकामा हाई स्कूल से मैट्रिकुलेशन-परीक्षा पास की तथा सन् 1932 ई० में पटना कालेज से बी०ए० किया । सन् 1933 ई० में हाई स्कूल में प्रधानाध्यापक की नौकरी से शुरू करके, बिहार सरकार के अधीन सब रजिस्ट्रार, प्रचार विभाग, बिहार सरकार के उपनिदेशक, लंगट सिंह महाविद्यालय मुजफ्फरपुर में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष, भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति और भारत सरकार के स्वराष्ट्र मंत्रालय में हिन्दी सलाहकार के पदों पर काम किया । इसी बीच 1952 में राज्यसभा के सदस्य भी बने । अपनी विभिन्न नौकरियों और संयुक्त परिवार की अनवरत व्यस्तताओं के बीच ये साहित्य-सृजन के क्षेत्र में लगातार सक्रिय रहे । सन् 1974 ई० में मद्रास में हृदय-गति रुक जाने के कारण इनका असामयिक

देहावसान हो गया । 'रेणुका' (1935), 'हुंकार' (1938), 'रसवन्ती' (1939), 'द्वन्द्वगीत' (1940), 'कुरुक्षेत्र' (1946), 'सामधेनी' (1947), 'रश्मिरथी' (1952), 'संस्कृति के चार अध्याय' (1956), 'चक्रवाल' (1956), 'उर्वशी' (1961), 'परशुराम की प्रतीक्षा' और 'हारे को हरिनाम' (1970) आदि दिनकर की महत्वपूर्ण रचनाएं हैं ।

काल-क्रम और काव्य-प्रवृत्ति के लिहाज से ये उत्तरछायावादी दौर के कवि हैं । इस काल के कवियों के सृजन के परिप्रेक्ष्य पर विचार करते हुए अपने बहुचर्चित निबन्ध 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' में विजयदेव नारायण साही ने छायावाद के पहले दौर की मेटाफिजिकल काव्य-मुद्रा उसके पीछे छिपी आदर्श, महत् आदि अवधारणाएं तथा इनसे सम्बद्ध गम्भीरता के भाव को स्पष्ट किया है । उन्होंने बताया है कि, किस तरह, इस प्रचलित धारणा के पीछे उन्नीसवीं सदी की वह भारतीय मानसिकता थी, जिसमें यह बात भरी हुई थी कि मेटाफिजिकल होना ही भारतीय परम्परा से जुड़ना है । साही जी इसी प्रसंग में लिखते हैं -'आगे हम देखेंगे कि छायावाद के दूसरे दौर में बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर, नवीन आदि गद्य तथा काव्य लेखकों ने किस प्रकार छायावाद का बाकी सब बदस्तूर रखते हुए, मेटाफिजिकल दार्शनिक मुद्रा और तज्जनित गंभीरता को नमस्कार किया और इससे कौन से नये मोड़ पैदा हुए ।'[2] यह सामान्य कथन इस युग के प्राय: सभी कवियों और इस तरह दिनकर पर भी लागू होता है और एक विशिष्ट काव्य प्रवृत्ति के परिप्रेक्ष्य की एक तर्कसम्मत व्याख्या प्रस्तुत करता है । लेकिन हम यह भी देखते हैं कि इस मेटाफिजिकल मुद्रा का

---

2. विजयदेव नारायण साही - छठवां दशक, पृ0 264-265

मोह दिनकर को छोड़ता नहीं है और रचना-क्रम के उस पड़ाव पर जहां 'उर्वशी' है, वे ये घोषणा करते दिखाई देते हैं कि -'कला, साहित्य और विशेषत: काव्य में भौतिक सौन्दर्य की महिमा अखण्ड है । फिर भी, श्रेष्ठ कविता, बराबर भौतिक से परे, भौतिकोत्तर सौन्दर्य का संकेत देती है, फिजिकल को लांघ कर मेटा-फिजिकल हो जाती है ।'[3]

दिनकर के लिए फिजिकल को लांघ कर मेटाफिजिकल हो जाना अच्छी या कि श्रेष्ठ कविता के लिए अनिवार्य शर्त है । यह शर्त दिनकर के लिए अनिवार्य क्यों है ? इस शर्त की अनिवार्यता 'उर्वशी' के स्वरूप को किस हद तक प्रभावित करती है ? क्या यह मेटाफिजिक्स 'उर्वशी' में वर्णित जीवन-स्थितियों की सहज उपज है ? यदि हां, तो दिनकर को ऐसी जीवन-संगतियों के चित्रण की अनिवार्यता क्या अपने काव्य को श्रेष्ठ बनाने के लिए दिखी ? इन सवालों को देखना पड़ेगा । वैसे, दिनकर पर इस मान्यता का असर काफी पहले से दिखाई देता है । अपने ही कृतित्व के एक पक्ष — उपेक्षाया महत्वपूर्ण और समाज द्वारा स्वीकृत-सम्मानित पक्ष — के प्रति एक उपेक्षा और एक हद तक अवज्ञा-भाव का खुला स्वीकार हमें यह समझने में सहूलियत देता है, कि आखिर क्यों 'रेणुका', 'हुंकार', 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' का कवि अपनी काव्य-यात्रा के अन्तिम चरण में 'उर्वशी' लिखता है । 'चक्रवाल' की भूमिका देखें तो इसके कारण का पता चलता है । दिनकर लिखते हैं -'संस्कारों से मैं कला के सामाजिक पक्ष का प्रेमी अवश्य बन गया था, किन्तु मन मेरा भी चाहता था कि गर्जन-तर्जन से दूर रहूं और केवल ऐसी ही कविताएं लिखूं जिनमें कोमलता और कल्पना का उभार हो । यही कारण था कि जिन दिनों 'हुंकार' की रचनाएं लिखी जा रही थीं, उन्हीं दिनों मैं

---

3. दिनकर - उर्वशी (भूमिका), पृ० ड

'रसवन्ती' और 'द्वन्द्वगीत' की भी रचना कर रहा था । ... सुयश तो मुझे 'हुंकार' से ही मिला । किन्तु, आत्मा मेरी अब भी 'रसवन्ती' में बसती है ।"[4] उनकी आत्मा कहां बसती है इस बारे में दिनकर की यह आत्म-स्वीकृति उनके कवि-व्यक्तित्व का परिचय पाने की एक दिशा का संकेत देती है । हम देखते हैं कि एक ओर वह समूचा काव्य-विस्तार है जिसे हम मोटे तौर पर दिनकर का राष्ट्रीय चेतना का काव्य कहते हैं, जिसे जनता अपनाती और सराहती है । दूसरी ओर उनके काव्य-विस्तार का वह पक्ष है जिसे वे खुद पाठकों से भी आगे बढ़कर चाहते हुए देखे जा सकते हैं । यहीं इस जनता से थोड़ा परिचित हो लेना अप्रासंगिक न होगा । अज्ञेय के अनुसार "उनके पढ़ने वालों और प्रशंसकों में सभी वर्गों और स्तरों के लोग भी रहे, और हैं ।"[5] यहां जिन वर्गों और स्तरों के सम्बन्ध में बात कही गयी है, वे बाद के दौर में लगातार अपनी रुचियों और प्राथमिकताओं में परस्पर भिन्न और बहुधा विरोधी बन कर सामने आये हैं । राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के विकास के क्रम में प्राप्त साधारण लक्ष्य की एकता के प्रभाव तले इनके भेद कुछ समय के लिए दूसरे दर्जे की बात बन गये थे । पर स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के वर्षों में क्रमशः यह भेद-भाव बढ़ता गया । इसी लिए दिनकर जैसे कवि, जिनकी सिद्धि और प्रसिद्धि का आधार इतिहास के एक विशिष्ट मोड़ पर आकार पाती हुई आकांक्षाओं की यह सामान्य संगति थी, को काव्य-रचना के उद्देश्य के प्रसंग में एक भीषण द्वन्द्व का सामना करना पड़ा । इस द्वन्द्व का अहसास बहुत पहले से उनके मन में था । 'चक्रवाल' की भूमिका से उद्धृत पंक्तियां इस बात को प्रमाणित करती हैं । दिनकर खुद यशोलाभ लेकर भी 'साधारण लक्ष्य की प्रातिनिधिकता' के इस काव्य के प्रति

---

4. दिनकर - चक्रवाल (भूमिका), पृ० 33
5. अज्ञेय - स्मृति लेखा, पृ० 123

अपनी सापेक्ष उदासीनता को ईमानदारी से स्वीकार करते हैं । यह ईमानदारी कितनी ईमानदार है ? स्वयं कवि के लिए जब यह काव्य महज `गर्जन-तर्जन` है, या कि देश-समाज की वक्ती तकाजों की उपज है, तब इसे लिखने के पीछे कौन सी अनिवार्य सृजनात्मक प्रेरणा क्रियाशील है ? बहरहाल यह अवान्तर प्रसंग है । यहां दूसरी दिशा `रसवन्ती` वाली है, जहां कवि के अनुसार उसकी आत्मा का वास है । हम पाते हैं कि रसवन्ती और द्वन्द्वगीत से कविता की जो कवायद शुरू होती है, वह उर्वशी तक आकर `बीटिंग रिट्रीट` में बदल जाती है । जाहिर है कि इसमें सकल ताम-झाम है ; नहीं है, तो केवल जीवन ; नहीं है, तो केवल जीवन्तता । इस नहीं होने के प्रमाणों और इसके पीछे क्रियाशील युगीन जीवन-स्थितियों की विसंगतियों की तफसील में हम आगे जाने का प्रयास करेंगे । फिलहाल, इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि `जीवन और जीवन्तता` के इसी अभाव -`इस युग की अनिवार्य अगम्भीरता` - की भरपाई के लिए दिनकर एक बार फिर से मेटाफिजिकल होने की कोशिश करते हैं । चूंकि मामला काम से संबंधित है और आधार उर्वशी, इसलिए कामनाओं की यह आध्यात्मिक चर्चा कवि के सारे प्रयासों के बावजूद देह का धरातल नहीं छोड़ पाती है । जहां कहीं `पर्वत के पांव` उखड़ते भी हैं, वहां वह `नर` का दम उखाड़ कर ही दम लेता है । शब्द `मानव` जोर तो बहुत लगाता है, पर देह `पत्थर` की तरह सामने खड़ी रहती है । `गहन गुह्य लोकों के द्वार` अवरुद्ध ही प्रतीत होते हैं । यहां यह सब देखते हुए लगता है कि समय की मांग को देखते हुए कवि छायावाद के पहले दौर के `महामानव` से आज के `लघु-मानव` की ओर चलता तो है, लेकिन इस चलने के ऐतिहासिक महत्व पर उसका भरोसा ठीक से जमा नहीं है । इस अविश्वास या कि आधे विश्वास के चलते दिनकर अपनी समूची काव्य-यात्रा में एक अद्भुत द्वन्द्व के शिकार दिखाई देते हैं और उनके द्वारा सृजित मानव `सहज` नहीं है, कम-से-कम उर्वशी में तो नहीं ही है । यह अकारण नहीं है कि उर्वशी और पुरूरवा अपना गुण-गान स्वयं करने लगते हैं - `अपनी सर्वथा स्पष्ट सीमाओं के बीच, उनके बावजूद ।

दिनकर के यहां और खास तौर से `उर्वशी` में वाग्स्फीति हर कहीं दिखाई देती है । अयाचित विस्तार और भाव-चित्रों की पुनरावृत्ति `उर्वशी` के सन्दर्भ में एक सामान्यता है । इस स्फीति के कारणों की तलाश के क्रम में ऐसा लगता है कि यह अनिवार्यत: आख्यानात्मकता और इसमें निहित दार्शनिक ऊहा-पोह की संभावना के प्रति कवि के विशेष आग्रह से जुड़ी है । आख्यान और दर्शन के प्रति कवि का अतिरिक्त मोह क्यों है और `उर्वशी` की रचना-प्रक्रिया को यह किस तरह, किस हद तक प्रभावित करता है, इस पर आगे विचार करेंगे ।

प्राप्त सूचनाओं के आधार पर हमें ज्ञात है कि `उर्वशी` के प्रकाशन के कुछ पहले से लेकर 1963-64 ई० तक इसकी प्रशंसा में भाषणों, टिप्पणियों और लेखों का एक अनवरत क्रम चलता रहा है । इसके साथ ही देवीशंकर अवस्थी की टिप्पणी के अनुसार -`नव लेखन से सम्बन्धित अधिकांश व्यक्तियों ने `उर्वशी` के विरुद्ध एक प्रकार का कानाफूसी आन्दोलन चला रखा था । वस्तुत: सतह के नीचे-नीचे चलने वाले इस आन्दोलन ने `उर्वशी` का जितना अवमूल्यन किया है, उतना ही उसकी अतिरिक्त प्रशंसा ने भी ।`[6] इस आतिशयिक प्रशंसा और प्रच्छन्न निन्दा ने `उर्वशी` को ऐसी भूमिका के साथ ला खड़ा किया कि हिन्दी-समाज द्वारा इसकी सहज ग्राह्यता में बाधा पड़ी । `कल्पना` के 138 वें अंक में भगवतशरण उपाध्याय का `दिनकर की `उर्वशी` ` शीर्षक लेख छपा, जो `उर्वशी` और उसी के व्याज से `दिनकर` के समूचे व्यक्तित्व और कृतित्व पर कई ज़रूरी और ग़ैरजरूरी टिप्पणियां लिये था । इस लेख पर बहुत तीखी प्रतिक्रियाएं आयीं, जिनमें व्यक्तिगत रूप से भगवतशरण उपाध्याय और `कल्पना` के सम्पादक को लिखे गये अपमानजनक पत्र भी शामिल हैं । इन प्रतिक्रियाओं में

---

6. देवीशंकर अवस्थी - `कल्पना`, 147 - पृ० 67

न केवल उपाध्याय जी के समीक्षा-लेख की भर्त्सना की गयी बल्कि `कल्पना` के सम्पादक-मण्डल पर, व्यक्तिगत विद्वेष की भावना से प्रेरित होकर, नियोजित ढंग से इस तरह का लेख छापने का आरोप भी लगाया गया । इस प्रसंग में वातावरण की दिशाहारा सम्वेदनशीलता को देखते हुए, बहस को सही दिशा-गति देने और अपने पक्ष को साफ तौर पर सामने लाने के उद्देश्य से, `कल्पना` के सम्पादक मण्डल ने उस समय के अनेक महत्वपूर्ण साहित्यकारों से उनके मन्तव्य माँगे । ये सभी मन्तव्य इस पत्रिका के 147 वें अंक में प्रकाशित हैं । मोटे तौर पर `उर्वशी` के सन्दर्भ में हुए विमर्श का यही वह विस्तार है जिसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उर्वशी-विवाद के नाम से जाना जाता है ।

प्रस्तुत प्रसंग में `कल्पना` के आग्रह पर कई मजबूत समकालीन कलमों द्वारा दर्ज की गयी राय ने जहाँ `उर्वशी` के सही कद को सामने लाने का काम किया, वहीं उपाध्याय जी द्वारा की गयी `उर्वशी`-समीक्षा के बारे में की गयी महत्वपूर्ण टिप्पणियों द्वारा भविष्य में सामने आने वाली साहित्यिक समीक्षा के स्वरूप-निर्धारण में अविस्मरणीय योगदान किया । इन सभी क्रिया-प्रतिक्रियाओं को ध्यान में रखते हुए डा० नामवर सिंह ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक `कविता के नये प्रतिमान` में `मूल्यों का टकराव : `उर्वशी`-विवाद` शीर्षक निबन्ध लिखा । प्रस्तुत निबन्ध में पहली बार इस प्रसंग से जुड़े उन सार्थक मुद्दों की ओर ध्यान गया जहां तक पहुंचने की अपेक्षा लेकर कल्पना के सम्पादक-मण्डल ने इस बहस का आयोजन किया था । कल्पना के 147 वें अंक की सम्पादकीय टिप्पणी के अनुसार इस बहस के आयोजन का उद्देश्य, लेखक, समीक्षक, पाठक और सम्पादक के बीच स्वस्थ सम्बन्धों के नये धरातल की तलाश और हवाई, निष्प्रयोजन और सोखले शब्दाडम्बर

की जगह खुले, ठोस तथा सार्थक विचार-विनिमय और बहस को सम्भव बनाना था । कहना न होगा कि `कल्पना` अपने उद्देश्य में सफल रही । इसीलिए `जनवरी 1964 की `कल्पना` में प्रकाशित उर्वशी-परिचर्चा ऐसा ऐतिहासिक दस्तावेज है जिससे समकालीन साहित्य में मूल्यों की सीधी टक्कर का पता चलता है ।`[7] इस बहस के आयोजन से पहले की स्थिति की ओर इशारा करते हुए इसी अंक की सम्पादकीय टिप्पणी का यह अंश ध्यान में रखने लायक है - ` `कल्पना` 138 में श्री दिनकर की `उर्वशी` पर श्री भगवतशरण उपाध्याय ने एक समीक्षा-लेख लिखा था । `कल्पना` 140, 141 और 144 में उस पर कुछ पाठकों के पत्र प्रकाशित हुए । अन्यत्र प्रकाशित समीक्षाओं, उस समीक्षा और उस पर प्राप्त प्रतिक्रियाओं से हमें लगा कि हमारे यहाँ साहित्य में जैसे कोई प्रतिमान नहीं हैं और अगर हैं भी तो इतने वायवीय हैं कि हमारी पकड़ से बाहर हैं । किसी भी कृति के मूल्य के सम्बन्ध में जितने माथ उतने मत हो सकते हैं, लेकिन कोई-न-कोई इतनी निरपेक्ष कसौटी तो होनी ही चाहिए जिस पर उसे कसा जा सके और जिसे सभी स्वीकार करें । एक ही चीज़ को एक आदमी सोना और दूसरा मिट्टी कहे, तो साधारण पाठक का और, शायद, लेखक का भी भौंचक रह जाना स्वाभाविक है । किसी भी कृति के बारे में कम-से-कम इस बात पर तो मतैक्य होना ही चाहिए कि वह साहित्यिक है या नहीं । मतभेद इस बात पर हो सकता है कि वह उत्कृष्ट है या नहीं । कुछ तो आधारभूत चीजें होनी ही चाहिएं जिन्हें साहित्य के अनिवार्य उपादान के रूप में सभी स्वीकार करें ।`[8]

`कल्पना` 147 के सम्पादकीय के इस अंश में निहित चिंता जिन सवालों को जन्म देती है, उनका उत्तर `उर्वशी` से जुड़े इस विमर्श से पाया जा सकता

---

7. नामवर सिंह - `कविता के नये प्रतिमान`, पृ0 69
8. सम्पादकीय टिप्पणी - `कल्पना`, जनवरी 1964, पृ0 3

है । सवाल बुनियादी और इसीलिए समान रूप से महत्वपूर्ण एवं कठिन हैं । हमारे साहित्य में प्रतिमान नहीं हैं, ऐसा न तो प्रस्तुत विवाद के पहले की साहित्यिक आलोचना के बारे में कहा जा सकता है, न समकालीन आलोचना के बारे में । लेकिन, यह आरोप कुछ अंशों में सही है, इसलिए कि साहित्यिक प्रतिमान कुछ विशेष प्रसंगों में कुछ विशेष आलोचकों के लिए वायवीय स्वरूप ग्रहण करते रहे हैं । इसमें आलोचक की भूमिका से कम महत्वपूर्ण योगदान, सृजनात्मकता के आधारों को वायवीय रूप देने वाले लेखकों की भूमिका का भी नहीं है । आलोचना निश्चय ही गम्भीर जिम्मेदारी का काम है, अत: रचना के आधारों की सही-सही परख केलिए यह आवश्यक है कि हम इसकी खूबियों और खामियों को अपेक्षित तटस्थता के साथ देखें । ऐसा नहीं होने पर आलोच्य और आलोचक के बीच सम्वेदना के स्तर पर वह अद्भुत एकता दिखाई देने लगती है जिसकी ओर प्रस्तुत प्रसंग में देवीशंकर अवस्थी ने संकेत किया है। भगवतशरण उपाध्याय की उर्वशी-समीक्षा पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं कि `उपाध्याय जी ने पूरे `उर्वशी` काव्य को एक दृष्टि की समग्रता, अन्तर्योजना, मूल्य-सांचे से सम्पृक्ति के आधार पर नहीं जांचा है । वे कभी तो कथा-स्रोतों की छानबीन करके बहुत कुछ चोरी का माल साबित करने पर तुलते हैं, तो कभी कवि के भाषा-सम्बन्धी ज्ञान का मजाक उड़ाने लगते हैं । कभी वे छंद की चर्चा करते हैं तो कभी असंगत बिम्ब-विधान की । उनकी समीक्षा-शैली पुरानी खानेदार आलोचना से कुछ बहुत भिन्न नहीं है । यहां आलोचना एवं आलोच्य में संवेदनागत धरातल की एक विचित्र एकता है ।`[9] यह खानेदार आलोचना क्या है ? इसकी संभावना कहां जन्म लेती है ? क्या जीवन की आलोचना में अन्विति का अभाव `उर्वशी` की भी विशेषता है ? क्या यह विशेषता उपाध्याय जी को प्रभावाक्रान्त करती है ? क्या वह उन्हें आलोचकीय जिम्मेदारी

---

9. देवीशंकर अवस्थी - `कल्पना` जनवरी 1964, पृ० 68

के ऐसे आवर्त में डाल देती है जहाँ उन्हें साहित्येतर मूल्यों-मानों, या कि मूल्य-विधान के साहित्येतर स्वरूप को अपनाने पर विवश होना पड़ता है । मुक्तिबोध के अनुसार - "सामाजिक प्रतिष्ठा के ज़ोर से साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के जो आडम्बरपूर्ण दृश्य हमें यत्र-तत्र दिखाई देते हैं, उनसे विचलित होकर वह आलोचना प्रस्तुत की गयी है । इसीलिए , भगवतशरण जी के लेख का अपना अतिरिक्त महत्व है ।"[10] इस समीक्षा पर जो अतिरिक्त जिम्मेदारी है, वह अपनी पूरी धनात्मकता के बावजूद इसमें बहुत कुछ ऐसा जोड़ देती है जो सामान्यत: स्वीकृत आलोचना के स्वरूप से बाहर की चीज़ है और बहुतों के लिए अग्राह्य भी । बहरहाल, इन प्रश्नों पर आगे विचार करेंगे कि इसमें कितना और क्यों अग्राह्य या वस्तुत: अतिरिक्त है ।

अन्विति के अभाव के साथ भगवतशरण जी के लेख की दूसरी विशेषता इसकी विशिष्ट ऐतिहासिक समझ है । यह समझ रचना को जीवित यथार्थ की जीवन्तता की कसौटी पर न परख कर इतिहास की सीमित और लगभग नकारी जा चुकी भाषा और परिभाषा के आधारों पर परखने की चेष्टा करती है । समय विशेष में घटित कोई घटना, आकार पाता हुआ कोई चरित्र या स्थितियों और गतियों की कोई संगति अपने समय के भीतर और उसके बावजूद भूत और भविष्य के काल-सन्दर्भों से जुड़ कर अपने व्यक्तित्व के नये आयामों की संभावना से सम्पन्न होती है । यह उसके व्यक्तित्व की ऐतिहासिकता है ।इसमें अतीत और भविष्य से वर्तमान को जोड़ने वाले सूत्रों के स्वरूप के निर्धारण या उनके महत्त्व के रेखांकन के पीछे एक निश्चित तर्क-प्रणाली छिपी होती है जो रचना के केन्द्रित-कालबद्ध स्वरूप यानी उसकी

---

10. ग० मा० मुक्तिबोध - `कल्पना` जनवरी 1964, पृ० 34

वर्तमानता के दबावों के तहत आकार पाती है । सृजन और संसरणशील काल के बीच सम्बन्ध का एक अन्य आयाम भी है जिसमें वर्तमान का ऊपर उल्लिखित दबाव इस तरह क्रियाशील नहीं रहता । इसे अन्य शब्दों में पाठ की व्याख्या का वह स्तर कह सकते हैं जहाँ इससे जुड़े सम्बन्ध-सूत्रों यानी इसे आकार-प्रकार देने वाली तर्क-प्रणाली भिन्न होती है । वह सार्वभौमिकता के आधार पर उसकी व्याख्या से जुड़े सभी सूत्रों की एक साथ उपस्थिति और इन सूत्रों के बीच किसी भी प्रकार की तर्क-प्रणाली या अतर्क्य स्थिति की संभावना से जुड़ी है । आज जबकि साहित्य की आलोचना में प्रत्येक पाठ के साथ रचना के अर्थ के निरन्तर परिवर्तित होते जाने की संभावना स्वीकृत हो चुकी है, भगवतशरण जी की आलोचना के इतिहास की सीमाएं और उभर कर सामने आ गयी हैं । इतिहास अपने सबसे अधिक लचीलेपन के साथ काल की जिस अवधारणा को लेकर चलता है, साहित्य उससे भी कहीं आगे जाकर इसे स्वीकारता है और इसलिए यह आपत्ति आज भी उतनी ही वाजिब है कि साहित्यिक कृति की आलोचना इतिहास-पुस्तक की तरह नहीं की जा सकती । इसके लिए साहित्य अपने नियम बनाता है । इन्हीं नियमों की सम्प्रभुता का विश्लेषण करते हुए विजयदेव नारायण साही लिखते हैं - 'मार्क्स साहित्य की एक सार्वभौमिकता की कल्पना करता है जो वर्गहित ही नहीं, सामाजिक युग को भी पार करके नये आनन्द की सृष्टि करता है । यह विशेषाधिकार अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शन आदि चेतना के अन्य स्तरों को नहीं दिया गया है । किसलिए साहित्य को वह युग-युग व्यापी शक्ति मिलती है ? ... यह सार्वभौमिकता और सौन्दर्य अथवा अनुभूति की गहराई, केवल विषय-वस्तु को पाठक तक पहुंचाने का स्वरूप या माध्यम नहीं है । वह साहित्यिक या कलात्मक उपलब्धि का चरम आदर्श है, उसकी अनिवार्य शर्त हैं ।'[11] प्रस्तुत प्रसंग में देखना यह है कि रचना के रूप में 'उर्वशी' और

---

11. विजयदेव नारायण साही - छठवां दशक, पृ० 38

आलोचना के रूप में `उर्वशी-समीक्षा` काल के त्रिविध आयामों में सहज संचरणशील चेतना-स्तरों की कसौटी पर किस हद तक खरी उतरती हैं । इसी जांच में कृति और लेखक तथा आलोचना और आलोचक की मूल्यवत्ता की परख की संभावना निहित है । उर्वशी-विमर्श में शामिल लेखकों ने कई बार हल्की और कई बार गहरी छानबीन करके इस दिशा में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रभूत प्रकाश डाला है । इससे आलोचना के मूल्यों-मानों का वह साँचा तैयार होता है जिसकी तलाश कल्पना के सम्पादक मण्डल और उसके माध्यम से हिन्दी के सामान्य पाठक-वर्ग को है । यह साँचा चूंकि साहित्य के सृजनात्मक आधारों का है, अत: जीवित और जीवन्त है । परिवर्तन इसका स्वभाव है । इसके स्वरूप के बारे में स्थिर मत अभिव्यक्त करना अत्यन्त कठिन है, एक हद तक बेमानी भी । ऐसा इसलिए कि न तो यह मृत है और न स्थिर ही । ऐसे में हम महज उन तत्वों के बारे में स्थिर मत दे सकते हैं जो इस प्रक्रिया में मर चुके हैं या जड़ और रूढ़ हो गये हैं । बाकी बातें उनकी गति के साथ और उनके समान्तर मिल कर चलने की ही हो सकती हैं । साही जी के शब्दों में कहें तो - `मनुष्य की परिभाषा वैज्ञानिक न होकर सृजनात्मक होती है । लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि उसे परिभाषित ही न किया जाय । नि:सीम होना हमारी विवशता है । लेकिन उस निस्सीम को बराबर सीमित जाल में फँसाते रहना और उस में निरन्तर सफल-असफल होते रहना, यह हमारी सबसे बड़ी उपलब्धि है, सृष्टि है । इसलिए साहित्य कभी सहज मनुष्य को नहीं पकड़ता - वह केवल उस केन्द्रित कालबद्ध, जाल में फंसी हुई सीमित झलक को पकड़ता है जहां से वह सहज आभासित होता है । कुछ दिनों तक - युग परिवर्तन की एक मुद्रा में - सहजता का यह आभास सजीव और मर्मग्राही लगता है । हमें लगता है, अन्तिम पूर्ण सत्य को हम पा गये हैं । फिर धीरे-धीरे युग-परिवर्तन की दूसरी मुद्रा आने तक, सत्य की यह प्रतीति विनष्ट होने लगती है, हमें लगता है कि हमारी पकड़ में तो सिर्फ दो-चार तत्व ही आये ।

मनुष्य की सजीवता और मनुष्य का मर्म तो फिर भी छूट गया । और दूसरा जाल फेंकने की तैयारियां होने लगती हैं । आदमी को कटघरों में बाँध कर कौन रच सका है ? लेकिन सिवा आदमी के इस प्रयास में लगा भी कौन ?'[12]

इस कोशिश में कामयाबी की चाहे जो सम्भावना हो, एक बात तय है कि सृजन और उसकी अन्तर्धारा के रूप में काम करती हुई आलोचना की मूल्य-व्यवस्था के जीवन्त और मृत तत्वों की पहचान उनकी केन्द्रित काल-बद्धता, ऐतिहासिकता और सार्वभौमिकता के विशेष सन्दर्भों सहित जिस एक महत्वपूर्ण आधार पर की जा सकती है, वह है भाषा । भाषा महत्वपूर्ण इसलिए है कि यह एक मात्र आधार है जो प्रदत्त है । सृजनात्मकता के अन्य आधारों या आन्तरिक मूल्य-प्रणाली तक पहुंचने का यही एक साधन हमारे पास है । यहाँ सवाल कृति, उसकी आलोचना तथा इस आलोचना की आलोचना के आधार रूप में सक्रिय भाषा की प्रकृति में निहित सृजनात्मक ऊर्जा से जुड़ा है । 29 नवम्बर 1995 को बनारस में आयोजित प्रगतिशील लेखक संघ के 'समीक्षा-संवाद' में 'बीसवीं सदी के अन्त में आलोचना कर्म ' पर विचार करते हुए नामवर जी कहते हैं --'कवि, उपन्यासकार, कहानीकार जो नया कुछ रच रहा है, वह भाषा तोड़ कर एक नई भाषा गढ़ रहा है । जब तक किसी विधा में भाषा को तोड़कर नई भाषा नहीं बनायी जाती,नया सृजन नहीं होता । आज भी आलोचना, आलोचना के प्रत्ययों, अवधारणाओं और पारम्परिक भाषा से इतनी जकड़ी हुई है कि वह नई बन ही नहीं सकती । ... अत: नया सिद्धान्त (मूल्य-व्यवस्था) गढ़ने के लिए जरूरी है कि अपनी भाषा का जाल, परिभाषाओं, प्रत्ययों और सारी शब्दावलियों

---

12. विजयदेव नारायण साही - छठवां दशक, पृ० 261

को शक की नज़र से देखकर तोड़ना होगा । भाषा को जब तक हिन्दी आलोचना नहीं तोड़ेगी, तब तक वह कवायद करती रहेगी एक ही जगह पर ।[13] आलोचना रचना के सृजन के दौरान समूची प्रक्रिया में जिस काम को अंजाम देती है, वह इस नवीन भाषा का निर्माण ही है । जब वह इस काम में अक्षम साबित होती है या लचर हो जाती है, तब वह सृजनात्मक ऊर्जा खो देती है । ऐसे में वह चुकी हुई भाषा बार-बार चुकती है । इस भाषा को सहारे की ज़रूरत महसूस होती है और यहाँ वह वाग्स्फीत होने लगती है ।इसी सन्दर्भ में एक सवाल वक्तृता का है । भाषा के प्रसंग में यह नया प्रश्न नहीं है, न इसका उपयोग ही नया है । जहाँ वक्तृता भावों और विचारों के सहज प्रवाह के कारण भाषा का लालित्य बनती है, वहीं योजित ढंग से उपयोग में लाये जाने पर वाग्स्फीति कहलाती है, बोझ बन जाती है । दिनकर के यहाँ और खास तौर पर `उर्वशी` के प्रसंग में उठाये गये वक्तृता के मुद्दे पर इस लिहाज़ से ग़ौर करना जरूरी है कि यहां वक्तृता किस भूमिका में है । आलोचना के मूल्यों में हो रहे परिवर्तन को जानने-परखने के लिए यह और भी आवश्यक है - क्योंकि, सृजन के आधार के रूप में काम करती हुई आलोचना की भाषा यदि वक्तृता-सम्पन्न होने के क्रम में वाग्स्फीत हो जाती है तो वही संकट दिखाई देता है जिसकी ओर नामवर जी का कथन संकेत कर रहा है । यदि `उर्वशी` के सन्दर्भ में रचना या आलोचना के स्तर पर ऐसी संकटपूर्ण स्थिति बनी तो इसे दूर करने में उर्वशी-विमर्श कहाँ तक कारगर है ? प्रस्तुत शोध ऊपर के पन्नों में उठाये गये प्रश्नों और प्रसंगवश पैदा होते हुए कुछ ऐसे ही और प्रश्नों के उत्तर की खोज के प्रयास में उर्वशी-विमर्श को देखने-समझने की चेष्टा है ।

O

---

13. नामवर सिंह - `पहल` (53), पृ० 52-53

2. विमर्श - 1

विस्तार और स्वरूप

`उर्वशी` के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा, सुना, लिखा और पढ़ा गया है। 1961 ई० में इसके प्रकाशन के कुछ पहले से लेकर बहुत देर बाद तक के समय-विस्तार में जितनी बातें समीक्षा-लेखों, टिप्पणियों, पत्रों और अन्य रूपों में सामने आयी हैं, उनमें तीन प्रमुख प्रवृत्तियों को रेखांकित किया जा सकता है। पहली प्रवृत्ति वह है जो दिनकर को महान् कवि मान कर चलती है और `उर्वशी` को उनकी महत्तम काव्य-कृति साबित करने की कोशिश करती है। दूसरी वह है, जो दिनकर को और इसीलिए `उर्वशी` को भी हिन्दी-साहित्य के रचनात्मक सन्दर्भ में कोई महत्व देने को प्रस्तुत नहीं है। भिन्न प्रतीत होती हुई इन दोनों धाराओं में आधारभूत समानता यह है कि ये दोनों, रचना की आलोचना, लेखक के व्यक्तित्व के अत्यधिक प्रभाव में करती हैं। पहली धारा जहाँ कवि के व्यक्तित्व के धनात्मक प्रभाव से आक्रांत है, वहीं दूसरी, इसके नकारात्मक प्रभावों से। पहले इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि किस तरह इस अतिवादिता ने `उर्वशी` के आने और हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में इसे सहज रूप से अपनाये जाने की संभावना पर ग्रहण लगा दिया था। `धर्मयुग` में वर्ष 1961 की हिन्दी-आलोचना का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए देवीशंकर अवस्थी की टिप्पणी इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करती है - ' `उर्वशी` की यह भयंकर प्रशंसा हिन्दी-आलोचना की निर्बलता की द्योतक है। यह मानने को मैं तैयार नहीं कि इतने बड़े हिन्दी-प्रदेश के सभी पाठक-समीक्षक एक ही जैसी रुचि, संस्कारों या प्रतिभा वाले होगये हैं। फिर, क्या असहमत होने वाले साहस नहीं जुटा पाते।'[1] इसी प्रसंग में धर्मवीर भारती ने लिखा है -'जिस समय `उर्वशी` प्रकाशित हुई, उसके पहले से ही उसके सम्बन्ध में एक विचित्र प्रकार की धूम मचायी जाने लगी थी और

---

1. देवीशंकर अवस्थी - `धर्मयुग`, दिसम्बर 1961

प्रकाशित होते ही हिन्दी की छोटी-बड़ी अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी समीक्षाएं एक साथ प्रकाशित हुईं जिनमें काव्येतर मानदण्डों की प्रधानता थी। चाटुकारिता, निराधार फतवे और इतनी अतिरंजित प्रशंसाएं जो कभी-कभी समझदार पाठकों को हास्यास्पद लगती थीं।[2] इस तरह यह देखा जा सकता है कि `उर्वशी` की भगवतशरण उपाध्याय द्वारा लिखी गयी समीक्षा एक ऐसे माहौल की उपज है जो समीक्षा के लिए उपयुक्त मानसिकता बनाने में सहायक नहीं थी। यह एक महत्वपूर्ण कारण है जिस से यह समीक्षा अपने आत्यन्तिक स्वभाव के तहत बातों को उनके महत्व की चिंता किये बिना सिरे तक खींच ले जाती है। उर्वशी-परिचर्चा इस आत्यन्तिकता से उपजे असंतुलन को संयमित करती है। इससे विमर्श को इसका अपेक्षित स्वर प्राप्त होता है।

उपाध्याय जी के समीक्षा-लेख का महत्व इसलिए नहीं है कि इसमें `उर्वशी` की या कि `दिनकर` की सम्यक् आलोचना हुई है या नहीं। इसका महत्व इसलिए है कि इसने `दिनकर` और `उर्वशी` की आलोचना के जरिए एक ऐसी बहस की संभावना बनायी जिसे हम उर्वशी-विवाद के नाम से जानते हैं। ऊपरी तौर पर इस परिचर्चा को देखते हुए ऐसा लग सकता है कि इस बहस का उद्देश्य `उर्वशी` का मूल्यांकन है। या फिर, दिनकर के अवदान का आकलन करने के लिए यह बहस आयोजित है। लेकिन, विमर्श इस सीमित सन्दर्भ में बँधकर नहीं रहता है। यह कहीं अधिक महत्वपूर्ण और सारगर्भ है। इसके महत्व का दूसरा बड़ा आयाम आधुनिक हिन्दी-कविता की आलोचना के स्वरूप-संस्कार से जुड़ा हुआ है। यह विवाद आलोचना के मानदण्डों की तलाश करता है और इस प्रक्रिया में आलोचना की मूल्य-प्रणाली के आकार

DISS
0,152,1,N08,2:g
152N6

2. धर्मवीर भारती - `कल्पना` (147), पृ० 69

TH-6315

पाते नये स्वरूप को रेखांकित करता है । `उर्वशी`-प्रसंग में आलोचना की यह तीसरी धारा बहस के बीच आकार पाती है । यहाँ ध्यान देने लायक यह है कि प्रतिभागियों में तीव्र मतान्तरों के बीच कुछ मुद्दों पर आम-सहमति दिखाई देती है । यह सहमति उनके मन्तव्यों के आधारभूत तर्कों में उपस्थित है । मसलन, इसबात पर सभी सहमत हैं कि उपाध्याय जी द्वारा आलोचना में प्रयुक्त साहित्येतर मानदण्ड उन्हें ऐसी दिशा-गति देते हैं जो साहित्य के लिए अनुपयुक्त है । इसके अतिरिक्त वाग्स्फीति का मुद्दा दो-एक को छोड़ सभी की नज़र में है । ऐसा ही एक प्रश्न `उर्वशी` के जीवन-दर्शन से जुड़ा है । वस्तुत: ये सभी मुद्दे एक-दूसरे से गहरे जुड़े हुए हैं । इन्हें समझने के लिए इनके बारे में व्यक्त किए गए विचारों को साथ-साथ देखना आवश्यक है ।

`उर्वशी`-विवाद में जिन लोगों ने प्रतिभागी की भूमिका निभायी है, `कल्पना`में दिये गये क्रम के अनुसार, वे हैं -`गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, अज्ञेय, ओम प्रकाश दीपक, कुंवर नारायण, कृष्णनाथ, देवीशंकर अवस्थी, धर्मवीर भारती, नगेन्द्र, परमानंद श्रीवास्तव, प्रभाकर माचवे, बच्चन सिंह, मैथिलीशरण गुप्त, रघुवंश, रघुवीर सहाय, रामविलास शर्मा , रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकांत वर्मा, विद्यानिवास मिश्र, शिव प्रसाद सिंह और सुमित्रानन्दन पंत । इनके मन्तव्यों से गुजर कर यह देखा जा सकता है कि पंत जी ने `उर्वशी` को महत्वपूर्ण कृति बताया है, लेकिन उपाध्याय जी द्वारा की गयी समीक्षा पर कोई टिप्पणी नहीं की है । गुप्त जी की टिप्पणी में न तो `उर्वशी` के बारे में कुछ कहा गया है और न उपाध्याय जी के समीक्षा-लेख के बारे में ही । इन दो को छोड़ कर बाकी सभी ने अपने-अपने ढंग से समकालीन आलोचना के स्वरूप के बारे में अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं । ओम प्रकाश दीपक और कृष्णनाथ जी की टिप्पणियाँ

मूलत: उपाध्याय जी की समीक्षा के प्रस्थान से सम्बद्ध हैं । ये एंगेल्स के उस कथन के परिप्रेक्ष्य को सामने लाती हैं जिसके बिना, उपाध्याय जी के प्रयास को एंगेल्स जैसे प्रभावी नाम का उपयोग करने से, एक तरह की न्याय-संगति प्राप्त होती है । परमानंद श्रीवास्तव और रामस्वरूप चतुर्वेदी जी की टिप्पणियाँ आलोचना की मूल्य-व्यवस्था से अधिक समीक्षा के उपयोग और महत्व की सीमाओं को रेखांकित करती हैं । विद्यानिवास मिश्र ने उर्वशी के मिथक को उसके मूल अर्थ-सन्दर्भ के साथ सामने रखा है । वे दिनकर की `उर्वशी` को अधिक महत्वपूर्ण नहीं मानते हैं । इसका कारण यह है कि, उनके अनुसार दिनकर उर्वशी के मिथक के मूल सन्दर्भ से अलग हट गये हैं । `काम के अध्यात्मीकरण` को वे `थोथा प्रयोजन` कहते हैं । अज्ञेय, देवीशंकर अवस्थी, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय आदि प्रतिभागियों ने उर्वशी और इसके प्रसंग में आलोचना के स्वरूप को समझने-समझाने की चेष्टा की है । रामविलास शर्मा `उर्वशी` को `उदात्त और आस्था-सम्पन्न` बताते हैं । इसके साथ ही वे इसमें आधुनिकता की चेतना भी देखते हैं । यहां दो लोगों की अलग से चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं होगा । ये हैं बच्चन सिंह और शिव प्रसाद सिंह, इन की तर्क प्रणाली, भक्तशरण जी की उग्रता और उससे उपजी विसंगतियों की आलोचना के क्रम में, खुद उसी उग्रता का शिकार हो गयी है । यह उग्रता इन्हें उस आपेक्षिक तटस्थता से विरत करती है जो आलोचना की अनिवार्य शर्त है । इनके अतिरिक्त मुक्तिबोध, नेमि जी और भारतभूषण अग्रवाल हैं जिन्हें विस्तारपूर्वक `उर्वशी` की संगतियों और विसंगतियों को अपने-अपने ढंग से सामने लाने का प्रयास किया है । पहले उठाये गये प्रश्नों के सन्दर्भ में हम इन सभी प्रतिभागियों के विचारों को सामने लाने और जाँचने का प्रयास करेंगे । इस प्रयास में निहित उद्देश्य यह है कि इससे समकालीन आलोचना की मूल्य-व्यवस्था में हो रहे परिवर्तन को देखा-समझा जा सके ।

पहला प्रश्न साहित्यिक और साहित्येतर मानदण्डों का है और यह इस विमर्श का एक महत्वपूर्ण पहलू है । ऐतिहासिकता और जीवन-दर्शन के सवाल इससे गहरे जुड़े हैं । प्रस्तावना में, इस पहलू का ध्यान न रखने से उपजे `अन्विति के अभाव` की चर्चा की जा चुकी है । साहित्य का आधार मनुष्य का जीवन है । अत: मनुष्य के जीवन और उससे सम्बद्ध ज्ञान के सभी आसंग परस्पर जुड़े हैं । उदाहरण के लिए साहित्य और दूसरे ज्ञान-संभागों के जुड़ाव को देखा जा सकता है । सम्बन्धों की पारस्परिकता में ही यह बात भी निहित है कि इन विविध संभागों का अलग-अलग और विशिष्ट चरित्र होता है । अत: अन्य संभागों की तरह साहित्य के मूल्यांकन का प्रश्न अनिवार्यत: अपनी मूल्य-व्यवस्था की माँग करता है । यह बात ध्यान में रखने की है कि रचना में लेखक के व्यक्तित्व का प्रदीप हमेशा सीधा-सीधा दिखाई देता हो, यह जरूरी नहीं है । व्यक्ति `दिनकर` को जानना एक बात है और `उर्वशी` की आलोचना दूसरी बात है । इनमें सम्बन्ध हो सकता है, पर ये दोनों बातें एक ही नहीं हो सकतीं । इस तरह के सरलीकरण को आलोचना का आधार बना कर चलना गलत निष्कर्षों तक ले जाता है । अत: साहित्य पर पड़ने वाले प्रभावों को मूल्यांकित करते हुए, यह जरूरी है कि मूल्यांकन के आधार पर इस क्षेत्र के भीतर ही निर्मित किये जायें और प्रमाण भी इस प्रणाली के अनुकूल हों । भगवतशरण जी के समीक्षा-लेख पर रघुवीर सहाय की टिप्पणी है कि -`वह बहुत ताजी, ईमानदार और खरी आलोचना है और दिनकर जी को इस तरह का व्यवहार गुण भी करेगा, पर, और यह बहुत बड़ा पर है, कि उस रचना को काव्य नहीं इतिहास का ग्रन्थ मानकर उसका मूल्य आँका जाना बिलकुल अगंल बात है । ऐसा भगवतशरण जी क्यों कर बैठे ।`[3] दिनकर जी को गुण करने वाला यह व्यवहार निश्चय

---

3. रघुवीर सहाय - `कल्पना`(147), पृ० 75

ही `उर्वशी` के व्याज से व्यक्ति `दिनकर` की आलोचना है जिसके आधारों के रूप में उनके व्यक्तिगत प्रभावों को देखा जा सकता है । अत: इतिहास-ग्रन्थ के रूप में भी `उर्वशी` की आलोचना कृति के आधार पर उतनी नहीं हुई है, जितनी लेखक के व्यक्तिगत इतिहास के आधार पर हुई है ।सवाल महज साहित्य के प्रतिमानों की जगह इतिहास के प्रतिमानों या दर्शन और मनोविज्ञान के प्रतिमानों को फिट करने का नहीं है, यह एक व्यक्ति विशेष के इतिहास, दर्शन या मनोविज्ञान के आधार पर सामाजिक सन्दर्भों में तय की गयी कृति की मूल्यवत्ता का है । यहीं उपाध्याय जी गलत राह चुन लेते हैं । मुक्तिबोध ने जहाँ उनसे सहमति व्यक्त भी की है, वहाँ खुद `उर्वशी` की आलोचना करते हुए वे एक भिन्न रास्ता चुनते हैं । सामाजिक प्रतिष्ठा के ज़ोर से साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के प्रयास को रोकने का एक तरीका मुक्तिबोध भी अपनाते हैं । अपनी-अपनी तरह से इस बहस के अन्य प्रतिभागियों यथा देवीशंकर अवस्थी, धर्मवीर भारती या लक्ष्मीकांत वर्मा के यहाँ इस प्रकार का भिन्न-भिन्न स्वरूप देखा जा सकता है । इनमें से किसी का भी उपाध्याय जी के तरीके से कोई मेल नहीं है । मुक्तिबोध के अनुसार उपाध्याय जी द्वारा की गयी `उर्वशी`-समीक्षा `बाहर से भीतर की ओर यात्रा है और इस प्रकार की यात्रा के जो खतरे होते हैं, वे भी उस में हैं ।`[4] वे उपाध्याय जी को `भीतर से बाहर` की यात्रा करने की सलाह देकर रुक नहीं जाते बल्कि खुद इस यात्रा पर चल पड़ते हैं । भीतर से बाहर की यात्रा यानी कृति को केन्द्र में रखकर की गयी आलोचना-यात्रा । यहीं साहित्यिक आलोचना के लिए विशिष्ट साहित्यिक प्रतिमानों की अनिवार्यता स्वीकृत होती है ।

---

4. ग० मा० मुक्तिबोध - `कल्पना` (147), पृ० 34

जिन कारणों से उपाध्याय जी `उर्वशी` को इतिहास असम्मत मानते हैं, उन्हीं कारणों से मुक्तिबोध भी ऐसा ही मान रहे हैं, यह नहीं है । उपाध्याय जी ने समीक्षा के क्रम में `उर्वशी` के जिन तीन पक्षों की चर्चा की है, वे हैं - रूप, शब्द और तथ्य । इन तीनों का ऐसा स्पष्ट विभाग अपने आप में इस तरह का सरलीकरण है जिससे सहमति बहुत कठिन है। बहरहाल, रूप के प्रसंग में उर्वशी में छपे चित्रों पर विचार करते हुए वे लिखते हैं -`प्रस्तर मूर्तियों की प्रतिकृतियाँ विषयों के अनुकूल ही खजुराहो की अप्सराओं तथा सुर-सुन्दरियों की परम्परा में हैं । कथाकाल और इन प्रति-मूर्तियों के निर्माण-काल के बीच 3000 वर्षों से अधिक का अन्तर होने के बावजूद दोनों में एक ऐसी समरसता है कि उसका एकस्थ सन्दर्भ अनुचित नहीं । खजुराहो उड़ीसा के मन्दिरों का वह प्रसार है, जिसका आरम्भ मध्य-काल में ऐलोरा के शृंगार-प्रधान चित्रों से हुआ था और जिसका बीज भारतीय देवालयों की देवदासियों और मध्य-पूर्व की मिलिन्ता आदि के देवस्थानों की पृष्ठभूमि में अंकुरित हुआ था । मनस् का पराक्रम कुछ ऐसा होता है, जो सदियों के व्यवधानों को लांघ जाया करता है और समान को समान वर लिया करता है । कवि ने भी तांत्रिक यौन साधकों के समानार्थक प्रतीकों को अपनी चित्रित व्यवस्था में, उनकी मूर्तियों की प्रतिकृतित: स्थापना को आदर्श माना है । इसमें भी हमें कोई विरोध नहीं, यद्यपि छठी सदी ई० के उड़ीसा के वज्रमहेन्द्र पर्वत के भवभूति के `मालती-माधव` में संकेतित वज्रयानियों को निश्चय ही विरोध हो सकता है कि उनकी अग्रभूमि पर उनके पृष्ठवर्ती द्वैत-अद्वैत दर्शन का कृत्रिम, भोंडा, काल-विरुद्ध, असत्य `विमान` क्यों खड़ा किया गया ।`[5]

---

5. भगवतशरण उपाध्याय - `कल्पना` (138), पृ० 53

तथ्य-विवेचना-प्रसंग में उपाध्याय जी जिन दो आधारों को लेकर चले हैं, उनके अनुसार, लेखक को स्पष्ट ऐतिहासिक सत्य के विपरीत नहीं जाना चाहिए तथा कृति में काल-विरुद्ध दूषणों का परिहार करना चाहिए। `यवनिका`, `पत्रक पर अंक`, `मुद्रित पृष्ठ`, `भट्टारक-भट्टारिका`, `कंचुकी`, `महामात्य`, `पौर जनों`, `मणिकुट्टिम` और `अरभ` जैसे अनेक शब्द-प्रयोगों पर आपत्ति प्रकट करते हुए उपाध्याय जी ने बड़े ही प्रयत्नपूर्वक काल-विरुद्ध दूषणों सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त उर्वशी के दर्शन के बारे में वे लिखते हैं - "द्वैत-अद्वैत की बकवास जो `उर्वशी` के पृष्ठों पर आर-पार छायी हुई है, उसका ज्ञान ऋग्वेद के पण्डितों को नहीं था। ... वस्तुत: भारत में अद्वैतवाद की सनक का प्रचार व्यापक रूप से 9 वीं सदी ई० में शंकर के दार्शनिक अभियान के बाद हुआ। ... पुरुरवा-उर्वशी का दर्शन-विलास और वह भी अद्वैत-दर्शन-सम्बन्धी उस काल में कोई अर्थ नहीं रखता, नितान्त स्थान-भिन्न है। इसी प्रकार, प्रकृति और पुरुष का जो स्वरूप कवि ने प्रस्तुत किया है, वह बहुत पीछे कपिल के सांख्य दर्शन में निरूपित हुआ और वहां पुरुष मात्र आत्मा है, प्रकृति का पति ईश्वर नहीं। आगे, आत्मा की देह से भिन्न स्थिति ऋग्वैदिक परम्परा की नहीं, उपनिषदों और उनसे दुही भगवद्गीता की है। आत्मा का तो संभवत: ऋग्वेद में उल्लेख तक नहीं है।"[6] इन उदाहरणों के आधार पर उपाध्याय जी यह सिद्ध करना चाहते हैं कि `संस्कृति के चार अध्याय` के लेखक दिनकर को ऐतिहासिक घटनाओं, दार्शनिक संगतियों और शब्दों के उद्भव और प्रयोग के तिथिक्रम का कोई ध्यान नहीं है। अत: उसकी कृति `उर्वशी` ऐतिहासिकता की कसौटी पर उनके अनुसार खरी नहीं उतरती।

---

6. भगवतशरण उपाध्याय - `कल्पना` (138), पृ० 63/64

मुक्तिबोध की `उर्वशी` सम्बन्धी चिन्ता बिलकुल भिन्न प्रकार की है । वे व्यतीत घटनाओं और वस्तु-संगतियों की कालानुक्रमणिका के आधार पर इसकी ऐतिहासिकता को नहीं परखते हैं । साहित्य अन्य किसी भी ज्ञान-सरणी यथा इतिहास, दर्शन या मनोविज्ञान को अर्थ की आंतरिक संगति के रूप में ग्रहण करता है, वह घटनाओं के पूर्वापर क्रम का यथाक्त् यांत्रिक पालन करने को बाध्य नहीं होता । महत्वपूर्ण यह नहीं है कि दिनकर ने इतिहास से जो कुछ लिया, वह तिथिक्रम के अनुसार लिया या नहीं । महत्व की बात यह है कि दिनकर ने अपनी सांस्कृतिक विरासत से क्या लिया ; कुछ लिया भी या लेने का प्रयास करते हुए दिखे ही । ऐतिहासिकता के ये वे पहलू हैं जो किसी काल के साहित्य को दिशा और गति देते हैं । इन सवालों का जवाब पाने के लिए `भीतर से बाहर की यात्रा` जरूरी हो जाती है । मुक्तिबोध लिखते हैं -`माना कि दिनकर ने बहुत समारोह-पूर्वक अपनी कृति `उर्वशी` के चारों ओर एक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आलोक वलय स्थापित करने का प्रयत्न किया है । किन्तु, इससे उर्वशी ऐतिहासिक काव्य नहीं हो जाता ।`[7] ऐतिहासिक काव्य होने की शर्त क्या है ? कोई साहित्यिक कृति अपने समय के ऐतिहासिक सच के साथ कितनी गहराई से जुड़ी है इसका उत्तर ही उसकी ऐतिहासिकता का प्रमाण हो सकता है । कवि की कृति के ऐतिहासिक महत्व के निर्धारण का आधार उसके द्वारा सृजित जीवन-भाषा का नयापन है । यह जीवन में वस्तुत: हो रहे समय-सापेक्ष परिवर्तनों की भाषा का नयापन है । देखना यह होता है कि कृति का समकालीन जीवन, व्यतीत तथा अनागत से इसके सम्बन्धों तथा तात्कालिक रूप से अप्रासंगिक-सी लगती हुई जीवन-संगतियों की अनिवार्य

---

7. मुक्तिबोध - `कल्पना` (147), पृ० 34

उपस्थिति के बीच बनती हुई राह से इस नयी सृजनात्मक भाषा का कितना गाढ़ा परिचय और प्रेम है । सृजन-सम्भव होती हुई नयी राह का महत्व इस की वस्तुगत संभावना और इसके प्रेरक उद्देश्य के निहितार्थों को लेकर है । स्त्री-पुरुष सम्बन्ध और समाज में इस सम्बन्ध के स्वीकार या अस्वीकार की विभिन्न कृतियाँ `उर्वशी` का विषय हैं । इनके आधार पर जीवन में व्याप्त द्वन्द्व ही कवि का कथ्य है । अपने समय और समाज के स्त्री-पुरुषों के बीच सम्बन्धों के उदात्त धरातल की तलाश `उर्वशी` का उद्देश्य है । दिनकर लिखते हैं कि -`मेरी दृष्टि में पुरुरवा सनातन नर का प्रतीक है और `उर्व शी ` सनातन नारी का ... नारी के भीतर एक और नारी है जो अगोचर और इन्द्रियातीत है । इस नारी का संधान पुरुष तब पाता है जब शरीर की धारा उछाल्ते-उछाल्ते उसे मन के समुद्र में फेंक देती है । जब दैहिक चेतना से परे वह प्रेम की दुर्गम-समाधि में पहुंच कर निष्पंद हो जाता है । और पुरुष के भीतर भी एक और पुरुष है, जो शरीर के धरातल पर नहीं रहता, जिससे मिलने की आकुलता में नारी अंग-संज्ञा के पार पहुंचना चाहती है । परिरंभ पाश में बंधे हुए प्रेमी परस्पर एक-दूसरे का अतिक्रमण करके भी ऐसे लोक में पहुंचना चाहते हैं, जो किरणोज्ज्वल है और वायवीय है ।`[8] कवि द्वारा दिया गया यह सिद्धान्त किन सूबियों-सामियों से सम्पन्न या विपन्न है ? देह के स्तर पर जो आकर्षण्ता भिन्न प्रकृति के मनुष्यों - पुरुष और स्त्री - के बीच आकार पाता है, वह उनके मानसिक गठन का भी अनिवार्य हिस्सा बनने के लिए विवश है । मनुष्य-समाज में मन का तल निश्चय ही पुरुष और स्त्री के लिए अलग-अलग आकार पाता है । इस तरह यह देह-आधारित भेद मन के तल पर चले जाने मात्र से छुटकारा नहीं देता ।

---

8. दिनकर - `उर्वशी`, भूमिका, पृ० (ख)

यदि स्वतंत्रता और समानता के आधुनिक आदर्शों की बात ध्यान में रखकर, स्त्री-पुरुष के बीच एक व्यापक मानवीय बंधुत्व की ओर चलने की कोशिश करें, तो इसके लिए अनिवार्य रूप से मन के लोक और देह के लोक की विच्छिन्न एवं विशिष्ट अवस्थित मानने की जरूरत ही नहीं रह जाती । दूसरे शब्दों में देह के तल को अनिवार्यत: निकृष्ट और मन के तल को उत्कृष्ट मानने का यह आतिशयिक सरलीकरण `उर्वशी` को गलत दिशा देने में सर्वथा समर्थ है । कवि के अनुसार यदि इस अपर लोक को इतना ही किरणोज्ज्वल और वायवीय मानकर चलें, तो तर्क का एक सूत्र हमें यह सोचने पर विवश करता है कि देह के स्तर से ऊपर उठकर वस्तुत: देह के तल पर प्राप्त इंद्रिय जनित भेद स्वत: समाप्त हो जाते होंगे । अत: यहां पुरुरवा और उर्वशी या फिर नर-नारी के सनातन होने की संभावना पर ही प्रश्नचिन्ह लग जाता है ।

सवाल यह है कि क्या लेखक के युग के स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को इस किरणोज्ज्वल और वायवीय धरातल की आवश्यकता थी ? अगर थी, तब तो यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता है ; अगर नहीं थी, तो कहना न होगा कि ऐसे धरातल के सृजन का यह प्रयास गलत आधार पर आकार पाता हुआ प्रयास है । मुक्तिबोध द्वारा की गयी टिप्पणी उर्वशी के मूल प्रस्थान, उसकी प्रेरणा के स्रोत को पहचानने की कोशिश है, उसके मूल्यगत आधार को परखने का प्रयास है । वे लिखते हैं - " `उर्वशी` का कारण दिनकर की वह मूल वृत्ति है जिसके फलस्वरूप उन्हें प्राचीन और मध्ययुगीन उत्सों की ओर जाना पड़ा, वह वृत्ति है - दुर्दम, ऐश्वर्यपूर्ण, काम-विलास की व्याकुल इच्छा और उसकी तृप्ति के औचित्य की स्थापना की आकांक्षा ।"[9] यह इच्छा और

---

9. मुक्तिबोध - `कल्पना` (147), पृ0 35

वृत्ति निश्चय ही दिनकर की व्यक्तिगत इच्छा और वृत्ति मात्र नहीं है । यह एक निश्चित देश काल में संभव एक वर्ग विशेष की इच्छा और वृत्ति है । कवि इसका सांस्कृतिक वाहक बनने के लिए सचेष्ट होता है । यह मुक्तिबोध के अनुसार उसकी ऐतिहासिकता की समझ की सीमा है । मुक्तिबोध का यह विचार स्वत:स्फूर्त या आत्मसिद्ध नहीं है । इस विचार को प्रेरणा और प्रमाण `उर्वशी` से गुजर कर मिलता है । बहरहाल, महत्वपूर्ण यह है कि मुक्तिबोध `उर्वशी` के सन्दर्भ में अपनी निष्पत्तियों तक पहुंचने में किन आधारों का इस्तेमाल करते हैं, किस प्रक्रिया से गुजरते हैं । वे लिखते हैं -`मैं अपने पाठकों का ध्यान इस तथ्य के प्रति आकर्षित करना चाहता हूं कि कोई भी कथा - अपने कथा रूप में - लेखक को (अपने विशेष उपयोग के लिए) आकर्षक तब प्रतीत होती है, जब वह एक कल्पना-स्वप्न बनकर उसके मनस् चक्षुओं के सामने तैर उठती है - एक ऐसा कल्पना-स्वप्न जिसमें उसकी (लेखक की) आत्मवृत्तियों को तृप्ति और संतोष प्राप्त हो । इस विशेष अर्थ में, मैं किसी भी कथा को - विशेषकर आत्मपरक काव्य के रचयिता द्वारा अपने उपयोग के लिए चुनी गयी कथा को - एक वृहद् कल्पना-स्वप्न कह देता हूं, भले ही कामायनी की कथा हो या पुरुरवा-उर्वशी की । हां, यह सही है कि काव्य में उसी कथा को उपस्थित करते हुए, उसे स्व-बाह्य वस्तुपरक रूप और आभा प्रदान की जा सकती है, की जाती है ; किन्तु, मूल रूप में, वह केवल एक कल्पना-स्वप्न ही रहता है, जिसमें लेखक की आत्मवृत्तियों का परिपोष और विश्वबोध प्रकट होता है । और, लेखक उस कल्पना-स्वप्न (या कथा के द्वारा) अपना अंतर्जगत और उस अंतर्जगत में संचित विश्वबोध प्रकट करता है ।`[10] आत्मपरक काव्य के मूल्यांकन के लिए यही वह

---

10. मुक्तिबोध, `कल्पना` (147), पृ0 35

आधारभूमि है जिससे चल कर मुक्तिबोध `कामायनी` पर पुनर्विचार करते हैं या `उर्वशी` पर अपना मंतव्य व्यक्त करते हैं । लेखक की आत्मवृत्तियों को तृप्ति और संतोष देकर ही कोई कृति आकार पाती है और इस प्रक्रिया में लेखक के विश्व बोध का प्रकटीकरण भी होता है । इस विश्व-बोध का निर्माण निश्चय ही उसी परिवेश द्वारा होता है, जो किसी भी लेखक के व्यक्तित्व के निर्माण का एक महत्वपूर्ण पहलू है । ऐसे में, उस परिवेश के कुछ अपने बन्धन हैं जो लेखक के अपने सर्जक व्यक्तित्व और उसके समाज के लिए अनिवार, अत: अनिवार्यत: उपस्थित सामान्य व्यक्तित्व की मानसिक उपस्थिति के बीच एक फासला बना देते हैं । सृजनधर्मी चेतना इस फासले का अतिक्रमण करने, इसे पाटने की चेष्टा करती है । उसे ऐसा करना ही होता है ।जहाँ यह अतिक्रमण संभव हो पाता है, वहाँ सर्जक की चिन्ता समय और समाज की ऐतिहासिक जरूरतों से जुड़ती है ; जहाँ यह नहीं हो पाता है, वहाँ सर्जक ऐतिहासिकता से चूक जाता है ।

भगवतशरण उपाध्याय द्वारा `उर्वशी` के सन्दर्भ में जिस ऐतिहासिक पक्ष की चिन्ता-चर्चा की गयी है, मुक्तिबोध उसे `तथाकथित ऐतिहासिक पक्ष` का नाम देते हैं । `तथाकथित` इसलिए कि वह उर्वशी का वास्तविक ऐतिहासिक पक्ष नहीं है । बावजूद इसके, मुक्तिबोध, उपाध्यायजी द्वारा की गयी आलोचना को महत्वपूर्ण और अत्यंत उपयोगी बताते हैं । `महत्वपूर्ण और अत्यंत उपयोगी` होना ही वह `अतिरिक्त महत्व` है जिसकी चर्चा मुक्तिबोध ने की है । अतिरिक्त इसलिए कि साहित्य के क्षेत्र में सृजनात्मकता के अलावा जो ताकतें सक्रिय होती हैं, उनका जवाब देने के लिए सृजनात्मक तर्कों से इतर कुछ और प्रकार के तर्कों की सक्रियता भी असंभाव्य नहीं है । पर इस बात पर गौर किये बिना नहीं रहा जा सकता कि अतिरिक्त महत्व के इस काम से सहमत होते हुए भी मुक्तिबोध खुद इस दिशा में नहीं जाते । मुक्तिबोध द्वारा

निर्मित आलोचना के मानदण्डों की प्रकृति बिलकुल अलग है । उनके अनुसार `उर्वशी` का मूल दोष यह है कि वह एक कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित काव्य है । `उर्वशी` की सृजनात्मकता में निहित मनोविज्ञान की कृत्रिमता का आधार यह है कि "काम-सुख के उद्दीप्त स्मरण चित्र इतने सतत गति, इतने प्रदीर्घ, इतने विस्तृत नहीं रह सकते - उनका अयन क्रम इतना नहीं रह सकता कि उनसे उमड़े भाव-समुदायों पर घन्टों बातें की जा सकें ।"[11] `उर्वशी` में यह बातचीत है, फुर्सत से है । उनका सवाल यह है कि "क्या इस तरह कामात्मक प्रसंगों के मनस्चित्रों की दीर्घकालिकता संभव है ? क्या वे चित्र बार-बार खो नहीं जाते ? और चूँकि वे बार-बार खो जाते हैं, इसलिए लेखक कल्पना-शक्ति को बलात् समुत्तेजित करता है । किन्तु, इस प्रकार बलात् उत्तेजित कल्पना अधिकाधिक वायवीय और आकाशविहारी बनती है । कल्पना का आकाशविहारी होना लेखक के संवेदनात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक भी है क्योंकि, उसे काम-संवेदनाओं को दिव्य-स्पर्श भी तो देना है । नतीजा यह होता है कि कल्पना-शक्ति कभी-कभी इतनी समुत्तेजित हो जाती है कि वह जड़ होकर मात्र अलंकरण बन जाती है । भावोच्छ्वास बार-बार समाप्त हो जाता है, अतएव पुन: पुन: प्राप्त उस अभाव की पूर्ति के लिए सांस्कृतिक शब्दों के आडंबर और मनोरत्यात्मक प्रवचन का सहारा लिया जाता है ।"[12] यह सब इसलिए कि कवि को यह बताना है कि कामात्मक अनुभवों के माध्यम से आध्यात्मिक प्रतीति सम्भव है । यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह प्रतीति सामान्य जन-सुलभ नहीं है, हो भी कैसे सकती है । कवि स्थापित करना चाहता है कि कुछ प्रज्ञावान भोगियों के लिए ऐन्द्रिक सुख के चरम क्षणों

---

11. मुक्तिबोध - `कल्पना` (147), पृ० 37
12. वही, पृ० 37

की परिणति अतीन्द्रिय सत्ता की उपलब्धि में होती है । और इसी मोर्चे पर दिनकर के लिए - राष्ट्रकवि दिनकर के लिए, मुक्तिबोध के कुछ साधारण लेकिन मारक प्रश्न हैं । ये प्रश्न उर्वशी के रचयिता के लिए नाराच सिद्ध होते हैं । ये सवाल हैं कि क्या इस अतीन्द्रिय सत्ता की उपलब्धि पुरुरवा और उर्वशी को हुई थी ? क्या सचमुच हुई थी ? और यदि हुई थी, तो उससे दिनकर जी ने क्या ग्रहण किया ? वे क्या स्थापित करना चाहते हैं ? कौन हैं वे प्रज्ञावान भोगी जिन्हें रति सुख की चरम परिणति में अतीन्द्रिय सत्ता से साक्षात्कार होता है ? क्या वे इस समय भारत में उपलब्ध हैं ? और क्या उनके लिए काव्य का सृजन किया जा सकता है, किया जाना चाहिए ! ये प्रश्न अपनी प्रश्नवाचकता में निश्चित नकारवाची उत्तर का संकेत लेकर आये हैं । कहना न होगा कि ये ही वे सवाल हैं जो `उर्वशी` की ऐतिहासिकता - साहित्यिक ऐतिहासिकता - को कठघरे में ला खड़ा करते हैं । चूंकि `उर्वशी` के पास इनका जवाब नहीं है, इसलिए यह अपने समय की ऐतिहासिक जरूरतों को न समझने या समझते हुए उनकी उपेक्षा करने से उपजी हुई इतिहास-असम्मत कृति है ।

प्रस्तुत प्रसंग में `विवेचना` की उर्वशी-विषयक गोष्ठी जो पांच दिसम्बर 1965 को हुई थी, की चर्चा सूचना के लिए जरूरी है । इस गोष्ठी में प्रयाग नारायण त्रिपाठी ने विषय-प्रवर्तन करते हुए उर्वशी पर अपना लेख पढ़ा । इस लेख में मुक्तिबोध के इस विचार पर कि - `रति सुख की विविध संवेदनाओं की बारीकियां और गहराइयाँ नर और नारी के बीच चर्चा का विषय नहीं हो सकतीं ` अपनी आपत्ति प्रकट की है । उनका मानना है कि बातें हो सकती हैं और उदाहरण के रूप में, वे वात्स्यायन से लेकर हेवलाक एलिस और सिमोन द बोउआ तक काम-शास्त्रियों की काम-मनोविश्लेषण वाली कृतियों को सामने रख देते हैं । वे मानते हैं कि सम्वेदनशील और परिपक्व

चिंतन-क्षमता वाले कवि के लिए प्रेम की दुर्गम समाधि के क्षणों का पुनर्स्मरण संभाव्य की सीमा के अन्दर है । इस बात को देखे बग़ैर नहीं रहा जा सकता कि मुक्तिबोध ने इस प्रसंग में आगे क्या लिखा है । उन्होंने लिखा है कि 'यही क्या, नर भी संभवत: उन्हें भूल जाता होगा । फिर भी, अगर यह मान भी लें कि रति-सुख के स्मरण चित्र उसके मन में उपस्थित होते हैं, तो उसके साथ यह भी जोड़ना होगा कि उन स्मरण चित्रों में उसे अतीन्द्रिय सत्ता की प्रतीति नहीं हो सकती । वह उन स्मरण-क्षणों में रत रहते हुए इतना विरत नहीं हो सकता कि ऐन्द्रिक सुख के चरम क्षणों के चित्र उपस्थित होते ही उसे अतीन्द्रिय सत्ता की उपलब्धि का मार्ग दिखाई दे । संक्षेप में, न वास्तविक कामोत्कर्ष के क्षणों में, न रति-सुख के स्मरण-चित्रों में डूबे होने की अवस्था में अतीन्द्रिय सत्ता - परम तत्व - का बोध हो सकता है । इस तर्क का आधार यह है कि आज जो स्थिति सामान्य मनुष्य के लिए अप्राकृतिक है, वह संभवत: केवल अस्वस्थ मनोदशा वालों के लिए ही प्राकृतिक हो सकती है ।'[13] यहाँ 'उर्वशी' में वर्णित स्थिति को देखने की जरूरत है । हम पाते हैं कि यहाँ रति-सुख की बहुविध बारीकियों की गहराई और उनके विस्तार पर चर्चा का समय ठीक वही है जो स्वयं रति-क्रिया का है । 'उर्वशी' का कथन प्रमाण है -

'पर मैं बाधक नहीं जहाँ भी रहो भूमि या नभ में
वक्षस्थल पर इसी भाँति मेरा कपोल रहने दो
कसे रहो बस इसी भाँति उरपीड़क आलिंगन में
और जलाते रहो अधरपुट को कठोर चुम्बन से

---

13. मुक्तिबोध - 'कल्पना' (147), पृ० 36/37

किन्तु आह ! यों नहीं, तनिक तो शिथिल करो बाहों को
निष्पेषित मत करो यदपि इस मधु निष्पेषण में भी
मर्मान्तिक है शान्ति और आनन्द एक दारुण है ।[14]

पहली बात तो यह कि प्रयाग नारायण त्रिपाठी द्वारा उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत की गयी पुस्तकें साहित्यिक रचनाएं नहीं हैं । दूसरे यह कि इनमें जो भी विचार व्यक्त किए गए हैं, वे रति के प्रगाढ़ आलिंगन-क्षणों में व्यक्त नहीं किये गये । बातें, कब, किससे, कहाँ तक, किसके बारे में की जा सकती हैं, इस सम्बन्ध में वस्तुपरक तटस्थता की जितनी छूट प्राकृतिक विज्ञानों और समाज--विज्ञानों को है उतनी छूट साहित्य को नहीं होती । इसकी अपनी व्यवहार प्रणाली है । यह और बात है कि साहित्यकार यदि छूट लेने की अनिवार्यता महसूस करे तो इसके लिए अनुकूल प्रसंग चुनने और सही सन्दर्भ प्रस्तुत करने की रचनात्मक स्वतंत्रता उसे है । सवाल यह है कि `उर्वशी` में दिनकर ने साहित्यकार को उपलब्ध इस सामर्थ्य का उपयोग किस तरह किया है ।

दिनकर यह मानकर चलते हैं कि कामात्मक अनुभवों के माध्यम से आध्यात्मिक प्रतीति सम्भव है और इस सिद्धि के प्रयास को काव्य का विषय बनाते हुए वे ऐसे प्रयास के ऐतिहासिक अनौचित्य को किनारे डाल कर आगे बढ़ जाते हैं । रचना जब ऐतिहासिक सवालों से जूझती है तो उसके वैचारिक संगठन के औचित्य या उसकी आन्तरिक गठन की अन्विति के लिए अतिरिक्त आयास की आवश्यकता नहीं होती । ऐसा तभी होता है, जब रचनाकार सृजन के क्रम में, प्रश्नों के उपस्थित स्वरूप की, उनके अंतस्संबंधों की जटिलता की,

---

14. दिनकर - `उर्वशी`, पृ0 50/51

उपेक्षा करके चलता है । ऐसे में, कई बार वह खुद की बातों के बारे में आश्वस्त नहीं हो पाता है । अत: उसे आश्वस्ति के लिए अतिरिक्त प्रयास करना पड़ता है । यह प्रयास रचना को कमज़ोर कर देता है । निष्कर्षत: मुक्तिबोध ने `उर्वशी` के दर्शन को 'कामात्मक सम्वेदनाओं की आध्यात्मिक परिणति के द्योतन के लिए उपस्थित किया गया एक दार्शनिक आडम्बर' बताया है । वह कामात्मक अहं की गतिविधियों की औचित्य-स्थापना का प्रयास है । वह ऐश्वर्यवान सम्पन्न श्रेणी की अनर्गल काम-स्पृहाओं को आध्यात्मिक औचित्य प्रदान करना चाहता है । इस प्रयास की ऐतिहासिक जड़ों को समझने के क्रम में इस काल के सृजन-जगत पर छाये संकट के विषैले बादलों की प्रकृति को विजयदेव नारायण साही के हवाले से जाना जा सकता है । यह प्रवृत्ति, वस्तुत: एक निश्चित देश-काल में वर्तमान व्यवस्था के भीतर वर्चस्व वाली, ऐश्वर्यवान सम्पन्न श्रेणी की निश्चित निश्चिन्तता और इससे उपजने वाली एकरसता की ऊब को तोड़ने की कोशिश का परिणाम है । साहित्यकार भी मनुष्य ही है । अत: मनुष्य की सीमाएं उसका साथ नहीं छोड़ती हैं । तब तक वह इन्हें अपने ऊपर हावी नहीं होने देता है जब तक उसकी सृजनात्मक ऊर्जा उसका साथ देती है । कुछ प्रसंगों में यह देखा जा सकता है कि सृजनात्मक ऊर्जा के ह्रास के साथ उपजी असुरक्षा की भावना के कारण व्यवस्था में वर्चस्वशाली लोगों की आवश्यकताओं को ही देश-काल की सबसे ज़रूरी मुद्दों की तरह सामने रख कर अभ्यासवश सृजन कर्म चलता रहता है । यह प्राणहीन सृजन-कर्म उन्हीं `जहरीले बादलों` से सींचा जाता है जो साही जी के अनुसार `केवल चोटियों पर बरसने वाले`[15] हैं ।

---

15. विजयदेव नारायण साही - साठवां दशक, पृ० 138

यह निश्चय ही आकस्मिक नहीं है कि 'पुरुरवा की विवाहिता स्त्री को केवल तपस्या का उपदेश दिया गया है, किन्तु उसके प्रति दिनकर के हृदय में विशेष करुणा नहीं है ।'[16]

मुक्तिबोध द्वारा की गयी आलोचना से गुजरते हुए इस बात को आसानी से देखा जा सकता है कि जितने भी प्रश्न उठाये गये हैं, उन्हें उनके 'तर्क पूर्ण संगत निष्कर्षों' तक पहुंचाने की प्रक्रिया में कहीं भी कृति से बाहर के आधारों या प्रमाणों को नहीं लाया गया है । सवाल 'उर्वशी' के भीतर, उसको पढ़ते हुए, उसे अपने समय से मिलाते हुए उपजे हैं और वहीं से उन प्रश्नों के उत्तर पाने की चेष्टा की गयी है । मनोविज्ञान, दर्शन और इतिहास की आलोचना में उपस्थिति, साहित्य-सन्दर्भ में आकार पाते हुए इनके विभिन्न रूपों और उनकी फलश्रुति को स्पष्ट करने के लिए है । अत: आलोचना के मूल्य-विधान के सन्दर्भ में इसके विशिष्ट साहित्यिक चरित्र का ध्यान रखना बहुत जरूरी है, नहीं तो 'उर्वशी' में 'आधुनिक चेतना' के दर्शन, 'उदात्तता' के अहसास और 'आस्था के स्वरों' की पूरी गुंजाइश बन सकती है ।

○

---

16. मुक्तिबोध - 'कल्पना' (147), पृ० 40

3. विमर्श - 2

उर्वशी का मिथक

'उर्वशी' के मिथक पर विचार करने से पहले यह आवश्यक है कि मिथक के स्वरूप के बारे में आधुनिक अवधारणाओं पर थोड़ा रुका जाय। 'कामायनी' की भूमिका में प्रसाद जी ने इस प्रकार की पुरानी गाथा और इतिहास के सम्बन्ध पर विचार किया है। वे लिखते हैं -'प्राय: लोग गाथा और इतिहास में मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं। किन्तु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है। आदिम युग के मनुष्यों के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्ण इतिवृत्त संग्रहीत किये थे, उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कह कर अलग कर दिया जाता है, क्योंकि उन चरित्रों के साथ भावनाओं का भी बीच-बीच में सम्बन्ध लगा हुआ-सा दीखता है। घटनाएं कहीं-कहीं अतिरंजित सी-भी जान पड़ती हैं। तथ्य संग्रहकारिणी तर्कबुद्धि को ऐसी घटनाओं में रूपक का आरोप कर लेने की सुविधा हो जाती है। किन्तु, उनमें भी कुछ सत्यांश घटना से सम्बद्ध है ऐसा तो मानना ही पड़ेगा। आज के मनुष्य के समीप तो उसकी वर्तमान संस्कृति का क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है; परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहाँ से प्रारम्भ होती है, ठीक उसी के पहले सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रंगों की रेखाओं से, बीती हुई और भी पहले की बातों का उल्लेख स्मृति-पट पर अमिट रहता है; परन्तु अतिरंजित-सा। वे घटनाएं आज विचित्रता से पूर्ण जान पड़ती हैं। ... यदि यह रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है। आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी, उसके तिथिक्रम मात्र से संतुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूल में क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभूति! हाँ, उसी भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर, वे सत्य घटनाएं स्थूल और दार्शनिक होकर मिथ्या और अभाव में

परिणत हो जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव, चिरंतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है।[1] यहां विमर्श के केन्द्र में गाथा का रूपकात्मक स्वरूप और इतिहास है। इन गाथाओं में और इस इतिहास में भी मिथक वर्तमान रहता है। मिथक कोई कथा-रूप न होकर एक सांस्कृतिक संकेत-प्रणाली है। इसकी शक्ति की सीमा अनन्त है। इसे शामिल किये बिना स्थितियों, गतियों या किसी अन्य संगति या विसंगति की व्याख्या असंभव है। रूपक, प्रतीक आदि व्यवस्थाएं भाषा के भीतर की चीजें हैं जबकि मिथक भाषा की सीमा का अतिक्रमण भी करता है। मिथक कथन का एक विशेष प्रकार है।[2] इसकी विशेषताओं की व्याख्या करते हुए रोलां बार्थ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'माइथालाजीज' में इसके दुहरे सांकेतिक स्तर को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार मिथक एक संदेश है। यह महज संप्रेषण का माध्यम नहीं संप्रेष्य भी है। इस संदेश में संकेतक और संकेतित की सहवर्ती स्थिति होती है। इन दोनों के बीच सम्बन्ध-रूप संकेत होता है। सांकेतिकता मिथक का धर्म (अनिवार्य गुण) है। सांकेतिकता के विशिष्ट चरित्र को समझ कर ही, कथन के इस स्वरूप की विशिष्टता तक पहुँचा जा सकता है। महत्व को संकेतित करना, अनिवार्य रूप से, किसी दी हुई व्यवस्था को नये सिरे से सृजित करना है। मिथक यह काम करता है। यह ऐसा कर पाता है क्योंकि भाषा की इकहरी सांकेतिक व्यवस्था की जगह यह दुहरी सांकेतिक व्यवस्था है। इकहरी सांकेतिक व्यवस्था द्वारा अभिव्यक्त अर्थ इसका प्रस्थान-बिन्दु है। यही कारण है कि भाषा-संकेत जो कहते हैं, मिथक उनसे अधिक कहने में समर्थ हैं। यह भाषा को नया सामर्थ्य देता है।

---

1. जयशंकर प्रसाद - कामायनी, पृ० 9-10
2. रोलां बार्थ - माइथालाजीज, पृ० 109

यह चरित्रों और अन्य उपलब्ध उपादानों को अपने विशेष उद्देश्य के अनुरूप संकेतों में बदल देता है । इस दुहरे सांकेतिक संदेश की आवश्यकता और विशेष उपयोग के बारे में बार्थ लिखते हैं कि यह न तो कुछ छुपाता है, और न किसी वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में स्वीकारोक्ति ही है । भाषा से भिन्न प्रकृति और चरित्र वाला यह संदेश निश्चित उद्देश्य से प्रेरित होता है । यह उद्देश्य है अभिव्यक्ति को प्रकृत बनाना । यह प्रकृत कथ्य ऐतिहासिकता के बन्धनों से मुक्त होकर ही प्रकृत बनता है । अतः यहां हम मिथक के स्वरूप को परिभाषित कर सकते हैं । बार्थ के अनुसार 'मिथक इतिहास के तथ्यगत स्वरूप को प्रकृत सत्य में बदल देता है ।'[3] परिवर्तन की प्रक्रिया पर विचार करते हुए उन्होंने बताया है कि 'इतिहास को प्रकृत बनाने की इस प्रक्रिया में मिथक की पहुँच सभी तक है । यह किसी भी वस्तु या स्थिति उनके पारस्परिक सम्बन्धों के स्वरूप की भाषा को अतिक्रमित और अतिक्रान्त करता है । यहां तक कि उसे भी जो इसके आगे घुटने टेकने से इनकार करते हैं ।'[4] अपने इस विशेष चरित्र के कारण मिथक एक खास तरह का अराजनीतिक कथन है । इस प्रकृति की सही परख न होने से इसकी विराट सोद्देश्यता के राजनीतिक हो जाने का खतरा भी हमेशा इसके साथ लगा रहता है ।

प्रस्तुत प्रसंग में देखना यह है कि दिनकर ने 'उर्वशी' में मिथक की इन रचनात्मक संभावनाओं के उपयोग में, कहाँ तक सफलता पायी है । 'उर्वशी' का मिथक एक आधुनिक रचनाकार को क्यों आकर्षित करता है ? इस प्रश्न के उत्तर भिन्न रचनाकारों के सन्दर्भ में भिन्न हो सकते हैं । इन उत्तरों की

---

3. रोलां बार्थ - माइथालोजीज, पृ० 129
4. वही, पृ० 132

प्रकृति भिन्न-भिन्न सर्जकों द्वारा इस मिथक को देखने के तरीकों और इन के महत्व को समझने में हमारी मदद करती है । उर्वशी का मिथक, स्वतंत्र-चेता नारी तथा सामान्य मनुष्य के आकर्षण और प्रेम तथा इनके बीच आकार पाते हुए सम्बन्ध-सूत्रों की सहज राह के अवरोधों को समझने में हमारी सहायता करता है । उर्वशी स्वाधीन स्त्री-सौन्दर्य की कल्पना है । चूँकि यह मानवीय कल्पना है, इसलिए मनुष्य-जीवन पर उसका निश्चित और स्वाभाविक असर है । यह असर साहित्य में भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्ति पाता रहा है । ऋग्वेद से चल कर शतपथ ब्राह्मण, कालिदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के रास्ते यह मिथक दिनकर तक की यात्रा तय करता है । सारा आधुनिक परिप्रेक्ष्य पर ध्यान को केन्द्रित रखते हुए इसकी शक्ति और सीमा को परखने की कोशिश (रवीन्द्रनाथ ठाकुर की `उर्वशी` शीर्षक कविता से शुरू कर सकते हैं -

> `तुम न माता हो, न कन्या हो, न वधू हो,
> हे सुन्दरी रूपसी, नंदनवासिनी उर्वशी !
> जब संध्या स्वर्णांचल डाले हुए थकी-थकी गोचर-भूमि पर उतरती है
> तुम उस समय किसी घर के कोने में संध्या-दीपक नहीं जलातीं,
> द्विधा विजड़ित पदों से, कांपते हुए वक्ष से आंखें नीची किये हुए
> हल्की मुस्कान के साथ अर्द्ध-रात्रि में
> सलज्ज भाव से नहीं जातीं तुम किसी भी बासर सय्या की ओर !
> तुम अकुंठिता हो
> उषा के समान अवगुंठिता हो ।`[5]

---

5. रवीन्द्रनाथ ठाकुर - `रवीन्द्रनाथ की कविताएं `, पृ० 117

प्रस्तुत उद्धरण रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'उर्वशी' कविता की प्रथम पंक्तियों का अनुवाद है । इस कविता को पढ़ते हुए एक आधुनिक कवि द्वारा उर्वशी के मिथक के अभिग्रहण को समझने में मदद मिलती है । उर्वशी सामान्य नारी नहीं है । वह ऐसा नारी-व्यक्तित्व है जो स्वतंत्रता-सम्पन्न है । जो अपनी मर्यादा आप ही तय करता है । नारी का यह व्यक्तित्व उस परम्परा-प्राप्त व्यक्तित्व से सर्वथा भिन्न है जिसमें नारी, बालिका से युवती और फिर प्रेयसी-पत्नी और माता की भूमिका ग्रहण करती है । इस परम्परित व्यक्तित्व से जुड़े बन्धनों की अनन्त शृंखला है । मर्यादा के सामाजिक बन्धन हैं । यहां स्त्री का व्यक्तित्व अवगुंठित अत: कुंठित है । कवि उर्वशी के अकुंठ व्यक्तित्व की कल्पना से, उसके स्वतंत्र सौन्दर्य से अभिभूत है । वह जगत-व्यापार के सुन्दरतम क्षणों में भी उस अकुंठ व्यक्तित्व के अभाव की व्यथा का अनुभव करता है, उसे शब्द देता है --

'वह गौरव शशांकिनी अस्ताचलवासिनी उर्वशी
अस्त हो गयी है, अब नहीं लौटेगी ।
इसीलिए आज पृथ्वी पर वसंत के उच्छ्वास में
किसी चिरविरह का दीर्घ नि:श्वास मिला हुआ जान पड़ता है,
पूर्णिमा की निशीथ में जब दशों दिशाओं में हंसी भर जाती है
तब कोई सुदूर स्मृति व्याकुल करने वाली वेणु बजाती है,
और आखें बह उठती हैं
तब भी प्राणों के क्रन्दन में
आशा का स्वर बजता रहता है, हे अबंधने ।'[6]

---

6. रवीन्द्रनाथ ठाकुर -'रवीन्द्रनाथ की कविताएं', पृ० 120

नारी के इस स्वतंत्र रूप की कल्पना भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार पाती रही है । चूँकि ये भिन्न आकार-प्रकार युगीन प्रभावों के तहत विकसित होते हैं, अत: यह मानना होगा कि भिन्न-भिन्न युगों में इस प्रकार की कल्पनाओं के आकार पाने के पीछे कुछ आधारभूत ठोस कारण रहे हैं । इन कारणों में हुआ परिवर्तन सामाजिक वस्तु-सत्य के स्तर पर हुआ परिवर्तन है । इस समय के साथ परिवर्तित होते हुए समाज की मूल्य-व्यवस्था का परिवर्तन है । इस तरह यह देखा जा सकता है कि उर्वशी का कोई भी सर्जक या आलोचक उसी हद तक सफल या विफल हो सकता है जिस हद तक वह समय-समाज के बदलते मूल्य-विधान की गतिमयता को आंकने में सफल या विफल हो । इस मूल्य-व्यवस्था का परिवर्तन उर्वशी को नयी भाषा और परिभाषा देता रहा है । इस तरह इसके व्यक्तित्व में कुछ नये पहलू जुड़ते रहे हैं, कुछ अलग होते रहे हैं । प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न रूप से उपस्थित इस सन्दर्भ ने स्त्री की स्वतंत्रता और पुरुष समाज द्वारा उसके साक्षात्कार की भिन्न-भिन्न संगतियों को स्वरूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है । इस प्रक्रिया में सामूहिक चेतना ने कितने कदम आगे बढ़ाये हैं, कहाँ यह ठिठक गयी है, कहाँ इसने सहारे की ज़रूरत महसूस की है, कहाँ यह पीछे लौट गयी है - ये सवाल उर्वशी के मिथक के माध्यम से सुलझाये जा सकते हैं । ध्यान देने की बात है कि इस स्वतंत्र सुन्दर स्त्री रूप की अपेक्षाओं का सन्दर्भ, खास भारतीय सांस्कृतिक सन्दर्भ है । इसका सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इस समूची प्रक्रिया में स्त्री और पुरुष की सहभागिता कितनी रही है । और इसे किस हद तक स्वीकार किया गया है । दूसरे शब्दों में यह प्रक्रिया स्त्री-पुरुष के सहवर्ती सम्बन्धों की अनिवार्यता में उनकी आपेक्षिक स्थितियों के विभिन्न आनुपातिक सन्दर्भों - उनकी युग-सापेक्ष सहजता - को जानने में सहायता कर सकती है । ऊपर उद्धृत कविता की पंक्तियाँ कवि के हृदय के हाहाकार के रूप में एक सामूहिक चेतना

की अभिव्यक्ति हैं । इसमें पुरुष, स्त्री, स्त्री के स्वतंत्र रूप की कल्पना और इनके बीच के सम्बन्ध-सूत्रों की धनात्मक दिशा की सहज स्वीकृति के लिए आकुल पुकार सुनायी पड़ती है । ऐसा नहीं कि स्त्री की परतंत्रता का एक मात्र कारण पुरुष है । न यही कि परतंत्रता के कारणों की खोज में केवल स्त्री के स्वभाव को दोष देकर निश्चिन्त हो जाया जा सके । यह भी नहीं कि नारी की मुक्ति केवल उसी की आकांक्षा है और न यही कि इसे पुरुष का दायित्व मानकर छोड़ दिया जाय । महत्वपूर्ण यह है कि स्त्री की स्वतन्त्रता जितनी स्त्री को चाहिए, उससे कम आवश्यक वह पुरुष के अस्तित्व के लिए भी नहीं है । इसकी प्राप्ति स्त्री-पुरुष के सम्पूर्ण सहयोग से ही सम्भव है । यह सर्वथा स्पष्ट सत्य का दुहराव मात्र है । लेकिन यह दुहराव आवश्यक इसलिए है कि अपनी स्पष्टता के बावजूद यह स्थिति अब भी हमारे लिए एक कामना ही बनी हुई है । यही कारण है कि उर्वशी, जो कि - स्त्री की उस स्वतंत्र कवि की मानसिक संकल्पना के रूप में - हमारी साहित्य परम्परा में बतौर मिथकीय चरित्र उपस्थित है, धरती पर आने, धरती को अपनाने के लिए तड़पती रही है । सामाजिक विसंगतियाँ उसे यहाँ आने से रोकती हैं, उसे यहाँ से बलात् निष्कासित करती हैं । यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस समूची प्रक्रिया में स्त्री-समाज के अपने मूल्य-विधान उसके सामने खड़ी चुनातियों में कम कठिन सिद्ध नहीं होते हैं । लेकिन, सर्वाधिक कठिन है उसकी अपराजेय स्वतन्त्रता की शर्त । पुरुरवा उसके सौन्दर्य पर मुग्ध है पर स्वतन्त्रता को खुद परिभाषित करना चाहता है । उर्वशी के जीवन की अपनी शर्तें हैं उसकी अपनी मर्यादा है । इस मर्यादा को छूने और उसे बदलने की कोशिश करने पर उसकी स्वतन्त्रता खण्डित होती है । अत: पुरुरवा के प्रति अपने अत्यधिक प्रेम के बावजूद वह अपनी स्वतन्त्रता से समझौता करने की बनिस्बत

लौट जाना पसंद करती है । स्त्री-स्वतंत्रता का वैतालिक प्रश्न एक बार फिर से सामाजिक संरचना की उलझी शाखों पर जा लटकता है ।

उर्वशी के जन्म के बारे में बहुत सी पुरानी कथात्मक संगतियां मिलती हैं । कहा जाता है कि समुद्र-मंथन के समय जब अप्सराओं का जन्म हुआ, तब उर्वशी भी उनमें एक थी । एक कहानी यह भी है कि नारायण ऋषि की तपस्या में विघ्न डालने के लिए जब इन्द्र ने अप्सराएं भेजीं, तब ऋषि ने अपने उरु को ठोंक कर उसमें से ऐसी नारी उत्पन्न कर दी, जो भेजी गयी अप्सराओं से कहीं अधिक सुन्दर थी । इसका नाम उर्वशी पड़ा । भगीरथ की जंघा पर बैठने के कारण गंगा को भी उर्वशी कहते हैं । ऋग्वेद से लेकर शतपथ ब्राह्मण, पुराणों, निरुक्त, कालिदास, रवीन्द्रनाथ टैगोर और दिनकर तक उर्वशी के आकार ग्रहण करने को हम जहां जिस भी रूप में पाते हैं उसे देख कर इतना तो स्पष्ट ही है कि उर्वशी, गहन वैचारिक मंथन का फल है । पुरुषों के मनोलोक में या कि उससे भी अधिक इस देश की सामूहिक चेतना में स्त्री को लेकर चलने वाले वैचारिक मंथन के चरम फल का निश्चित भारतीय रूप उर्वशी की विभिन्न कृतियों में दिखायी देता है । अपने अपरूप रूप और असाधारण व्यवहार के बावजूद उर्वशी पूज्या नहीं है । इसका कारण क्या है ? पुराने जमाने से लेकर आज तक भारतीय मनीषा बौद्धिक उत्कर्ष के क्षणों में नारी रूप की जिन कृतियों को देखने में समर्थ हो पायी है उनमें उर्वशी का व्यक्तित्व विशिष्ट है । समाज द्वारा स्वीकृत पैमानों से बड़ा कोई स्त्री-व्यक्तित्व दिखाई दिया नहीं कि उसकी धार को कुन्द करने के लिए उसे भोग्या से लेकर पूज्या तक बना डालने और इस तरह सामाजिक स्वीकृति के बँधे बँधाये चौखटे में फिट कर लेने का प्रयास शुरू हो जाता है । पुराने जमाने से चले आ रहे नारी चरित्रों में उर्वशी की

विशिष्टता के बावजूद इसे पूज्या नहीं बनाना और इसे सर्वत: भोग्या के भाव से भी न देख पाना, इसके व्यक्तित्व की विलक्षणता का सूचक है । यह विलक्षणता इसकी स्वतंत्र-सुन्दरता के प्रति भारतीय सामूहिक चेतना का गहरा आकर्षण है । यहाँ एक बार फिर एक स्पष्ट सत्य का दुहराव ज़रूरी है कि भारतीय समाज की पारम्परिक दृष्टि में भोग्या बनकर ही या कि स्वतंत्रता गँवा कर ही स्त्री पूज्या बनती रही है । ऐसे में एक ऐसी श्रेणी की कल्पना आकार लेती है, जिसे अप्सरा कहते हैं । अप्सराएं न तो देव कोटि की हैं और न मानव कोटि की ही । अत: इन पर मनुष्य समाज के सामान्य आचार लागू नहीं होते । न कोई इनकी पूजा करता है, न कोई इनसे सामान्य व्यवहार की अपेक्षा ही रखता है । इनसे मनुष्य-लोक की स्त्रियों और वहाँ के पुरुषों को अलग-अलग तरह का खतरा जरूर बना रहता है । स्त्रियाँ अपने पति खो देती हैं, पुरुष अपनी तपस्या । उर्वशी इस अप्सरापन को भी नहीं मानती है । वह इसे अतिक्रमित करती है । इसका कारण यह है कि स्त्री को अपनी सहज स्वतन्त्रता में पुरुषों की तपस्या भंग करने का सामान बनना कतई स्वीकार नहीं है । उर्वशी को पुरुष के साथ सम्बन्धों में केवल बराबरी नहीं, इस बराबरी की सहजता और इस तरह इस सहजता की सामाजिक स्वीकृति की अपेक्षा है । इन सम्बन्धों की सहजता स्त्री-पक्ष के लिए भी इच्छा या अनिच्छा का मामला न होकर अनिवार्यता है । सिमोन द बोउआ (- - - - - - - - - - - - - - -) अपनी अद्वितीय कृति `द सेकेण्ड सेक्स` में इसकी व्याख्या करते हुए लिखती हैं कि `आज इस संघर्ष का स्वरूप बदल गया है । औरत अब बदले की भावना से प्रेरित न होकर खुद ऊपर उठने का प्रयास कर रही है । वह पुरुष को इस संघर्ष में शामिल करने की बजाय उससे अलग, अपने उत्कर्ष के लिए सक्रिय है । यहां पुरुष मनोवृत्ति एक नये संघर्ष को

जन्म देती है । स्त्री को अकेले संघर्ष करने देना उससे - उसके प्रभावकारी व्यक्तित्व से - सहा नहीं जाता है । अत: वह स्त्री-पक्ष द्वारा लायी गयी इस स्थिति को तो सहर्ष स्वीकार कर लेता है, लेकिन अपने व्यक्तित्व की विच्छिन्न सम्प्रभुता के इस स्वीकार में स्त्री-पक्ष की बराबरी का अस्वीकार भी अनिवार्यत: जुड़ा होता है । स्त्री अपने प्रति इस अस्वीकार या अविश्वास का जवाब अपनी आक्रामकता से देती है । अब यह संघर्ष, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच का संघर्ष न रह कर, स्त्री-जाति और पुरुष-जाति के बीच का संघर्ष बन जाता है । अपने अधिकारों की घोषणा करती हुई स्त्री-जाति की आक्रामकता वर्चस्वशाली पुरुष-जाति का प्रतिरोध झेलती है । यहां ये दोनों पारस्परिक स्वीकार की वजह एक-दूसरे पर चढ़ बैठने को उद्यत होती है ।[7] स्थितिगत विसंगति को देखते हुए इनका मानना है कि यह लड़ाई तब तक चलती रहेगी, जब तक कि स्त्री और पुरुष एक-दूसरे को समानता के धरातल पर नहीं पायेंगे । स्त्री के उत्कर्ष का अर्थ पुरुष के साथ उसके सम्बन्धों के घेरे का अस्वीकार है, यह उन सम्बन्धों का अस्वीकार नहीं है । सिमोन द बोउआ कहती हैं कि - 'उसे अपना स्वतंत्र अस्तित्व पाने दो तभी वह अपने पुरुष सहयात्री के लिए भी सम्पूर्ण सम्भव होगी । व्यक्तित्व की पारस्परिक स्वीकृति में अपने-अपने स्वतंत्र अस्तित्व के साथ ।'[8] मार्क्स के अनुसार - 'स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध मनुष्य और मनुष्य के बीच प्रत्यक्ष, प्रकृत और अनिवार्य सम्बन्ध है ।'[9] इस सम्बन्ध को परिभाषित करते हुए सिमोन द बोउआ यह मानती हैं और

---

7. सिमोन द बोउआ - 'द सेकेण्ड सेक्स', पृ0 726-727
8. वही, पृ0 740
9. वही, पृ0 741

जिसे लेकर सन्देह की कोई संभावना नहीं हो सकती कि - 'स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध मनुष्य और मनुष्य के बीच का सर्वाधिक सहज सम्बन्ध है । इस सम्बन्ध के द्वारा यह दिखाई देता है कि मनुष्य का सहज व्यवहार कहाँ तक मानवीय हो पाया है, या कि, मानवीय सत्ता कहाँ तक अपनी सहजता पा सकी है, या फिर मनुष्य की मनुष्यता उसकी प्रकृति में कहाँ तक शामिल है ।'[10] अंत: वे यह कहती हैं कि इस क्षेत्र में अंतिम विजय के लिए यह अनिवार्य है कि स्त्री और पुरुष अपनी प्राकृतिक भिन्नता के द्वारा और इसके होते हुए पारस्परिक बन्धुत्व की असंदिग्ध स्वीकृति तक पहुचें । उर्वशी अपनी स्वतंत्र-सुन्दरता के साथ इसी प्रयास में लगी है । वह पुरुरवा से प्रेम करती है ।उसे देवताओं का रक्त-ताप-हीन मनोविलास संतोष नहीं देता, क्योंकि वह नारी का सहज रूप है । पुरुरवा अपने अद्वितीय पराक्रम और वैभव के बावजूद मनुष्य है और इस तरह पुरुरवा से प्रेम करती हुई उर्वशी मनुष्य से - मनुष्यता से - प्रेम करती है । मनुष्यता के प्रति उर्वशी के राग के अनेक रंग हैं । इस प्रेम में उसे पारस्परिक सम्बन्धों की सहजता की तलाश है । इस क्रम में उसे जब यह लगता है कि उसकी स्वतंत्रता दाँव पर लगी है, तबवह वापस लौट जाती है । उर्वशी कहीं भी इतनी कमजोर नहीं है कि वह किसी शाप के कारण अपने द्वारा निर्धारित पथ से हट जाय । वह चाहती है, इसलिए लौटती है । वह ऐसा चाहती है क्योंकि वह मरने के लिए जन्मी ही नहीं है । उर्वशी की मृत्यु, स्त्री-स्वाधीनता की कल्पना की मृत्यु है, इसलिए असम्भव है । वह जिन्दा है और मनुष्य से प्रेम करती हुईउससे अलग है --

---

10. सिमोन द बोउआ - 'द सेकेण्ड सेक्स', पृ0 741

`फिरिबे ना, फिरिबे ना, अस्त गेछे से गौरव शशि
अस्ताचल वासिनी उर्वशी ! `[11]

मनुष्य यदि उसे पाना चाहे तो उसे स्वतंत्रता की शर्तें माननी होंगी, अन्यथा उर्वशी का साथ पाना असंभव है । जहाँ दिनकर ने सम्बन्धों के किरणोज्ज्वल और वायवीय तल की बात की है, वहाँ असल में सहजता के धरातल की आवश्यकता है । कई बार उदात्तता इसलिए भी आवश्यक हो जाती है कि हम सहजता से आंख चुराना चाहते हैं । ऐसे अवसरों पर जो कुछ समाज में चल रहा है, उसे वहीं छोड़ कर आसन्न संघर्ष से बच निकलते हैं । इसी प्रवृत्ति को दिनकर और उनके सहधर्मी कवियों में रेखांकित करते हुए विजयदेव नारायण साही ने `अनिवार्य अगम्भीरता` कहा है । उर्वशी मानवी नहीं है । वह मानवी बनना चाहती है, बनी रहना चाहती है । उसका मानवी न होना, मानवी बनकर न रह पाना उसकी संकल्पना में लगी सामूहिक भारतीय चेतना के पुरुषसत्तात्मक चरित्र की अपनी विवशता है । ऋषि का शाप, नाट्य के सन्दर्भ में उर्वशी के स्खलन के कारण सामने आता है । ध्यान देने की बात है कि इस स्खलन का कारण उसका पुरुरवा के प्रति प्रेम है । यह स्त्री के स्वाधीन व्यक्तित्व का मनुष्यता के प्रति सहज प्रेम है । प्रेम की इसी सहजता को सामाजिक मूल्य-प्रणाली का आधार बनाना होगा। यह एक विवाहित पुरुष के प्रति किसी अन्य स्त्री का प्रेम नहीं, वरन् स्त्री के स्वाधीन व्यक्तित्व की संकल्पना के पुरुष द्वारा स्वीकार या अस्वीकार का मामला है । ऋषि का शाप अब उर्वशी की समस्त आकांक्षा के विरुद्ध उसके मानवीय जीवन को एक अयाचित और अमानवीय (दैवीय) विराम देता है । यह शाप सम्बन्धों की इस सहजता का सामाजिक अस्वीकार है ।

---

11. रवीन्द्रनाथ ठाकुर - `उर्वशी`, `कल्पना`(147), पृ० 51

मानवीय सहज स्वाधीनता की इच्छा और उसकी खोज के भारतीय परिप्रेक्ष्य को सामने रखें तो प्रत्येक असुविधाजनक प्रश्न का अंत एक देववाणी, एक ऋषि शाप पर होता हुआ दिखाई देता है । उर्वशी में इस धरती के सुख-दुःख को, इसकी सम्पूर्णता में, अपनी बाँहों में कस लेने की अदम्य लालसा है । यही कारण है कि वह इस लोक की नहीं, उस लोक की बनायी गयी है । विराम यहाँ भी नहीं है । उस लोक की होकर भी उर्वशी के मन में ये इच्छाएं इतनी बलवती हैं कि वह वहाँ के विधान के विरुद्ध उठ खड़ी होती है । यह अपर लोक मनुष्य की मानसिक कृति है । यहाँ की व्यवस्था भी मनुष्य की चेतना के - उसकी शक्ति और सीमाओं के - आधार पर ही बनी है । अतः उर्वशी का तालमेल यहाँ भी नहीं बैठता । कुछ समय के लिए दण्ड, उपहार बनता-सा प्रतीत होता है; अभिशाप, वरदान लाता है । उर्वशी, प्रिय पुरुरवा की बाँहों में अपनी धरती पर आती है । दिनकर की धरती स्वर्ग में बदल जाने की चिन्ता से ग्रस्त है । धरती की अपनी जीवन-व्यवस्था है । इसकी समाज-स्वीकृत मूल्य-व्यवस्था है । यह व्यवस्था उर्वशी की उपस्थिति को सहज ही स्वीकार नहीं करती । औशीनरी की दमघोंटने वाली चुप्पी ; और उर्वशी के अपर लोक लौट जाने का, सुकन्या द्वारा प्रतिरोधहीन स्वीकार इसी सामाजिक रोग के प्रतिफलन हैं । देवलोक से लेकर मर्त्यलोक तक पुरुष वर्चस्व के समीकरणों का सामाजिक स्वीकार उर्वशी को कठपुतली की तरह नचाता है । उर्वशी माँ बनती है और माँ की भूमिका उसे अपनी पूर्णता में कहीं भी नहीं खटकती । उसे यह छूट मिल जाती है, लेकिन यह छूट अभिशाप के रूप में है । एक ऐसा अभिशाप जो उसे निश्चित तौर पर दण्डित करने के लिए है । यह दण्ड, प्रेयसी के रूप में पुरुरवा के साथ रहकर उससे जबरदस्ती अलग कर दिये जाने में है ; आयु की माँ बनकर उससे बिछुड़ने की बाध्यता में है ; इन दोनों पुरुषों के साथ सहज सम्बन्धों की आकांक्षा को अधूरा रखने में है । यह शाप सामाजिक चेतना की, आन्तरिक विसंगतियों की उपज है । यह अपनी दूरगामी परिणति में उसी समाज के खिलाफ है, जिसकी

उपज है । इस विसंगति का मूल, स्त्रियों पर उनके अस्तित्व के खिलाफ लादी गयी पुरुष की अधिकारवादी मनोवृत्ति है । जिन्दगी उनकी नहीं, इनकी शर्तों पर टिकी है । उर्वशी इन सब के खिलाफ लड़ सकती है, लड़ती है । पर उसे जहां से स्वीकार की आशा और आकांक्षा है, वह है पुरुरवा ।

'उर्वशी' के तीसरे अंक का विश्लेषण करते हुए नेमिचन्द्र जैन उर्वशी के उपालम्भ को रेखांकित करते हैं --

> 'मिले अंत में तब, जब लज्जा की मर्याद गँवा कर
> स्वर्ग-लोक को छोड़, भूमि पर स्वयं चली मैं आई ।'[12]

पुरुरवा के पास इसका कोई उचित उत्तर नहीं है । हकीकत यह है कि उर्वशी की स्वतंत्र सुन्दरता के प्रति उद्दाम आकर्षण का अनुभव तो वह कर रहा है, लेकिन इस आकर्षण की प्रकृति उसकी समझ से बाहर है । माँगने में क्षत्रिय का अहंकार चोट खाता है, इसलिए इन्द्र से उर्वशी माँगी नहीं जा सकती । लड़ने में वह चिराचरित व्यवस्था आड़े आ जाती है, जिसमें वह राजा है । वह व्यवस्था है जिसके द्वारा दी गयी सोच के अनुसार कामनाओं में बँधना और बँधा रहना माया में बँधा रहना है । पुरुरवा का व्यक्तित्व इन्हीं वैचारिक संगतियों का संघट्ट है । वह अपने को इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की जड़ता से अलग नहीं कर पाता है । उसे लगता है कि इससे अलग होना उसके लिए, वास्तव में, नहीं होना है । ऐसे में उर्वशी की बनिस्बत वह व्यवस्था की जड़ता को तरजीह देता है । उर्वशी उसके लिए सिवा अन्य नारी-देह के और कुछ भी नहीं है । आध्यात्मिक सिद्धि, उर्वशी की स्वतंत्र-सुन्दरता की

---

12. दिनकर - 'उर्वशी', पृ० 32

सहजता को भुठलाने का हथियार है । ऐसे में, उर्वशी उसके लिए माध्यम हो सकती है, सीढ़ी हो सकती है ; लक्ष्य या साध्य नहीं हो सकती । यही वह मूल कारण है कि वह उर्वशी के आकर्षण में बंधकर भी, उसे बाहु-वलय में सब कसकर भी उससे दूर रह जाता है । वह कहता है --

`कौन है अंकुश, इसे मैं भी नहीं पहचानता हूं,
पर, सरोवर के किनारे कंठ में जो जल रही है,
उस तृषा, उस वेदना को जानता हूं ।`[13]

और , इसीलिए चिंतन का एक ऐसा क्रम है, प्रश्नों की एक ऐसी शृंखला है जिसका अंत नहीं है -

`फिर वही पृच्छा चिरन्तन
रूप की आराधना का मार्ग
आलिंगन नहीं, तो और क्या है ?
स्नेह का सौन्दर्य को उपहार
रसचुम्बन नहीं, तो और क्या है ?`[14]

और अंतत:

`चाहिए देवत्व,
पर, इस आग को धर दूं कहाँ पर ?
कामनाओं को विसर्जित व्योम में कर दूं कहाँ पर ?

---

13. दिनकर - `उर्वशी`, पृ० 36
14. वही, पृ० 37

वह्नि का बेचैन यह रस-कोष, बोलो, कौन लेगा ?
आग के बदले मुझे संतोष, बोलो, कौन देगा ?

फिर दिशाएं मौन, फिर उत्तर नहीं है ।`[15]

उर्वशी के आकर्षण में बँधने, उसे प्राप्त करने और उससे मुक्त होने की अकुलाहट पुरुरवा के व्यक्तित्व में कहां से आती है ? इसे पुरुरवा का व्यक्तिगत प्रश्न मानकर छोड़ देना कवि का उद्देश्य नहीं है । अगर ऐसा हो तो इस बात का कोई मतलब नहीं रह जाता है कि पुरुरवा `सनातन नर` है और उर्वशी `सनातन नारी` । यह `सनातनता` कवि के इस उद्देश्य को प्रमाणित करती है कि इन चरित्रों में ऐसा कुछ है जिसका सम्पूर्ण मानवता से जरूर कुछ लेना-देना है । यही वह आधार है जिस पर `उर्वशी` के सामाजिक-सांस्कृतिक उत्तरदायित्व की परीक्षा अनिवार्य हो जाती है । नेमि जी की स्पष्ट मान्यता है कि उर्वशी आधुनिक-चेतना का काव्य नहीं है । आधुनिकता की चेतना इस बात की अपेक्षा रखती है कि जो कुछ काव्य में चित्रित किया जा रहा है, उसका निश्चय या अनिश्चय, निश्चित तर्क पर आधारित हो । आधुनिक चेतना का अभाव, असल में, इस तार्किक संगति का अभाव है । उर्वशी के मिथक की संभावनाओं और सीमाओं के भीतर अपनी युगीन चेतना की सांकेतिक अभिव्यक्ति में दिनकर चूक गये हैं और यही चेतनागत आधुनिकता का अभाव है । यह अभाव उन्हें युगीन समस्याओं को ठीक-ठीक समझने नहीं देता ; अत: कवि ऐसी समस्याओं की कल्पना में प्रवृत्त हो जाता है जो वस्तुत: हैं ही नहीं । ये कल्पनाएं इस मिथक को इसकी धनात्मक संगतियों की ओर न ले जा कर विपरीत दिशा देती हैं । यह वही दिशा है जो पुरुरवा को देवत्व की प्राप्ति की ओर ले जाती

---

15. दिनकर - `उर्वशी`, पृ0 42

है । वह सामाजिक जड़ता को कुल-मर्यादा मानता है । देवलोक के खिलाफ अपने आक्रोश को दबा कर वह सन्यास ग्रहण करता है । सन्यास का रास्ता पुरुरवा या दिनकर की खोज नहीं, आसन्न संकटों से मुंह चुराने का एक प्राचीन साधन है । अत: उर्वशी के प्रति उसका प्रेम महज आकर्षण बनकर रह जाता है । प्रेम के आकर्षण बनकर रह जाने से उर्वशी का वह प्रश्न दोगुनी तेजी से मन में बजने लगता है कि 'तुम मुझे इन्द्र से छीन कर क्यों न ले आये ।'

उर्वशी पुरुरवा से प्रेम करती है, क्योंकि यह उसके सामाजिक अस्तित्व की सहजता से जुड़ा सवाल है । इस प्रेम की सच्चाई उसे पुरुरवा से बहुत निकट पहुँचा देती है । यह निकटता उसे एक खतरनाक पर जरूरी सच तक पहुँचाती है । उसे पुरुरवा के व्यक्तित्व की कमजोरी दिखाई देती है । उसे यह दिखाई दे जाता है कि पुरुरवा जो दिखाई देता है, असल में है नहीं । वह खुद की प्रभा से आलोकित सूरज नहीं, बनाया हुआ सूर्य है ।

'मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूं मैं
उर्वशी अपने समय का सूर्य हूं मैं ।'[16]

यह घोषणा खोखली और निराधार साबित होती है । अत: वह पुरुरवा को छोड़ने पर विवश हो जाती है । स्त्री-स्वाधीनता की चेतना को यदि भारतीय परिप्रेक्ष्य में जिन्दा रहना है तो उसे कठिन परीक्षा से गुजरना होगा । उसी परीक्षा से, जिससे उर्वशी गुजरी है । दूसरी ओर पुरुरवा, स्त्री के स्वाधीन-व्यक्तित्व की सुन्दरता के सहज सम्मोहन में बंधता तो है

---

16. दिनकर - 'उर्वशी', पृ० 41

पर इसकी कीमत देना नहीं चाहता । स्त्री को इस रूप में अपनाने के लिए जरूरी त्याग में उसे अस्तित्व का संकट नजर आने लगता है । ऐसे में भरत-शाप को स्वीकार करने की विवशता को ओढ़ लेने के सिवा उसके पास कोई और चारा नहीं बचता है । उसकी इस बेचारगी को उर्वशी देखती और समझती है । पुरुरवा की नंगी नग्नता उर्वशी की आंखों में गड़ जाती है और इस मिथक के एक अन्य प्रसंग के अनुसार नंगे पुरुरवा को देखते ही उर्वशी उसे छोड़कर, न चाहते हुए भी, स्वर्ग की ओर चल देती है । पुरुरवा जहाँ है वहाँ उर्वशी प्रेम कर सकती है, प्रेम करने की इच्छा रख सकती है, गर्भ-भार ढो सकती है, पुत्र जन सकती है, पर उसकी सहधर्मिणी नहीं हो सकती । पुरुरवा को या कि समस्त भारतीय पुरुष-वर्ग को निश्चय ही अग्नि और तप करना होगा, दारुण दाह झेलना होगा, कीमत चुकानी होगी । लेकिन संन्यास लेकर नहीं, जीवन-जगत में रहकर, घटना-चक्रों के बीच, दैनन्दिन जीवन-क्रम में । केवल तभी उर्वशी प्राप्त होगी । तब तक पुरुरवा के लिए उर्वशी के पास इस कथन के सिवा कुछ नहीं है --

'पुरुरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि ।'[17]

o

---

17. ऋग्वेद (दशम स्कंध 95/2)

डी० डी० कोशाम्बी - 'मिथ एण्ड रियलिटि', पृ० 50 से उद्धृत ।

4. विमर्श - 3

उर्वशी की भाषा

प्रारम्भ में इस बात का संकेत किया जा चुका है कि सृजनात्मकता के आधार के रूप में काम करती हुई मूल्य-प्रणाली की प्रकृति को पहचानने में भाषा कितनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । प्रस्तुत विमर्श में एक बार फिर से भगवतशरण उपाध्याय की भाषा सम्बन्धी चिन्ता और उर्वशी-परिचर्चा के अन्य प्रतिभागियों की भाषा विषयक चिन्ता में गहरा अन्तर दिखाई देता है । कुछ महत्वपूर्ण संकेत खुद उपाध्याय जी की आलोचना की भाषा पर भी केन्द्रित हैं । दिनकर की भाषा के बारे में उपाध्याय जी की टिप्पणी है कि 'साधारणत: 'उर्वशी' का कवि प्रवहमान भाषा का प्रयोग करता है और अनेक स्थल इससे मधुर भी हो उठे हैं । पर, जो पचासा पार कर चुका है और चौथाई सदी तक कवि कर्म करता रहा है, उससे रवां भाषा के उपयोग की अपेक्षा करना तो न्यूनतम है, यद्यपि इस पराक्रम में भी वह अनेकधा और अक्सर चूक गया है ।'[1] उदाहरणों को खोज लाने में उपाध्याय जी जरा भी आलस नहीं दिखाते हैं । चांदनी रात में तारों की चमक से शुरू करके मुहावरों के साथ की गयी छेड़-छाड़ और शब्द प्रयोगों की चूक तक उपाध्याय जी की नज़र अपना कमाल दिखाती है । परन्तु इस तरह की छूट लेने की आवश्यकता कवि को क्यों महसूस हुई, इस बारे में उपाध्याय जी ने कुछ भी नहीं लिखा है । पश्चिमी प्रभावों के सतह पर दिख जाने से वे असुविधा महसूस करते हैं । तत्सम शब्दों के प्रति दिनकर के अतिरिक्त लगाव तथा कुछ शब्दों के स्वीकृत रूपों में मनोनुकूल परिवर्तन को भी उपाध्याय जी सामने रखते हैं लेकिन जिस सचेत प्रयास से वे उदाहरण जुटाने में लगे हैं वह, कारणों की खोज में कहीं दिखाई नहीं

---

1. भगवतशरण उपाध्याय - 'कल्पना' (138), पृ० 55

देता । एक बार फिर उपाध्याय जी के इस तरह सामने आने का कारण दिनकर के प्रति उनका अवज्ञा-भाव है । पर इससे बात बनती नहीं है । कुछ एक स्थलों को छोड़ कर उपाध्याय जी से सहमत हुआ जा सकता है पर जितने धैर्य से वे इस शब्द-समीक्षा में लगे हैं, उससे स्वभावत: भाषा सम्बन्धी स्खलन के मूल-कारणों तक उनकी पहुंच की अपेक्षा बढ़ जाती है । लेकिन इस मोर्चे पर वे सक्रिय नहीं दिखाई देते ।

दूसरी ओर उर्वशी-परिचर्चा के प्रतिभागियों ने जहां भी भाषा-संकट को सामने रखा है, इसके मूलभूत कारणों तक पहुंचने की कोशिश की है । देवीशंकर अवस्थी के विचार देखें -`दिनकर को पढ़ते समय मुझे हमेशा लगता रहा है कि वे सच्चे कवि नहीं हैं । काव्यानुभूति की कमी को वे अपने वक्तृत्व से पूरा करना चाहते हैं । और इस प्रक्रिया में वक्तृत्व अक्सर रही-सही अनुभूति को भी पदच्युत कर काव्य की उपाधि स्वयं धारण कर लेता है । हिन्दी के अधिकांश अध्यापक और पाठक इस वक्तृत्व-गुण को ही काव्य मानने का भ्रम पालते आये हैं (जय हो कवि-सम्मेलनों की : उनके द्वारा विकसित एवं गृहीत काव्य-बोध का एकमात्र यही रूप हो सकता है ।)`[2] यहां लोकप्रियता के आधार पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है । लोक-प्रियता कवि को एक खास तरह की भाषा से बाँध सकती है इसका इससे अच्छा और उदाहरण पाना कठिन है । दिनकर प्रेम-प्रसंगों के वर्णन में भी ठीक उसी भाषा का इस्तेमाल करते हैं जिसका युद्ध या उद्‌बोधन के प्रसंग में । उदाहरण `उर्वशी` में हर जगह मिलेंगे । ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं --

---

2. देवीशंकर अवस्थी - `कल्पना` (147), पृ० 68

`स्वर्ण-दी, सत्य ही, वह जिसमें ऊर्मियां नहीं, स्वर ताप नहीं,
देवता, शेष जिसके मन में कामना, द्वन्द्व, परिताप नहीं ।
पर, ओ, जीवन के चटुल वेग ! तू होता क्यों इतना कातर ?
तू पुरुष तभी तक, गरज रहा जब तक भीतर यह वैश्वानर ।`[3]

अवस्थी जी का मानना है कि उपाध्याय जी काव्यानुभूति की जगह वक्तता के स्थानान्तरण को दरकिनार करने के कारण समस्या के मूल तक नहीं पहुँच पाये हैं । वे फिर कहते हैं कि अनुभूति के स्तरेपन के इस अभाव के कारण ही वे कथ्य के उपयुक्त छन्द नहीं पा सके हैं । यह लम्बा छन्द वक्तव्य के ही अधिक अनुकूल है - कोमल अनुभूतियों के नहीं । इस बारे में नेमिचन्द्र जैन ने भी विचार व्यक्त किया है -`भ्रांति नहीं, अनुभूति ; जिसे ईश्वर हम सब कहते हैं । और इन शब्दों के साथ उसका वह बारह पृष्ठों का लम्बा भाषण आरम्भ होता है जिसमें जीवन और संसार के समस्त चरम तत्वों की चर्चा है । कवि को इस भाषण में निबद्ध `विचार तत्व` से चाहे जितना मोह क्यों न हो, वह उसे चाहे जितना महत्वपूर्ण क्यों न मानता हो, यह स्थल इस काव्य का सबसे अनुपयुक्त, असंगत और नीरस स्थल है ।`[4] आगे नेमि जी का मानना यह है कि `प्रणयानुभूति के चरम क्षण में, नर-नारी के सनातन आकर्षण की पवित्र परिणति के उस परम मुहूर्त में, आत्मा-परमात्मा की वह चर्चा अपना औचित्य सिद्ध करने के प्रयत्न जैसी लगती है ।`[5] `उर्वशी` के कथ्य के अनुरूप भाषा-रूप उसे नहीं मिला है । नेमि जी उसकी संवादात्मकता को उसकी प्रभावक्ता में बहुत बड़ी बाधा मानते

---

3. दिनकर - `उर्वशी`, पृ० 42
4. नेमिचन्द्र जैन - `कल्पना` (147), पृ० 44
5. वही, पृ० 47

हैं । `उर्वशी` की भाव-वस्तु की भिन्नता को रेखांकित करते हुए वे कहते हैं कि काम-भाव के आवेश को, उसके ज्वार की शक्ति को, ओजपूर्ण शब्दावली में व्यक्त नहीं किया जा सकता । दिनकर ने ऐसा ही करने का प्रयास किया है । अत: विधान में कमजोरी आ गई है ।

भाषा सम्बन्धी विचारों की एक दूसरी दिशा भी है । यहां प्रभाकर माचवे हैं जिनके अनुसार `दिनकर की कविता में वक्तृत्व गुण बहुत होता है ।` यह सामान्य कथन इस बात की ओर कोई संकेत नहीं करता कि भिन्न प्रकृति के कथ्य के लिए संप्रेषण के स्तर पर यह वक्तृत्व-गुण किस तरह साधक या बाधक बनता है । रामविलास जी की प्रतिक्रिया आश्चर्यजनक है । वे भी उर्वशी पर लिखते हुए सामान्यीकरण का सहारा लेते हैं । `दिनकर जी उदात्त भावनाओं के कवि हैं... निराला जी के बाद मुझे किसी वर्तमान कवि की रचना में ऐसा मेघमन्द्र स्वर सुनने को नहीं मिला जैसा दिनकर जी की `उर्वशी` में ।`[6] इन्होंने भी यह बताना आवश्यक नहीं समझा है कि यह मेघमन्द्र स्वर `उर्वशी` के सन्दर्भ में कहां तक फिट बैठता है । निराला की भाषा सम्बन्धी सजगता को देखते हुए दिनकर को उनके साथ बिठा देना युक्ति-युक्त नहीं है ।

`उर्वशी` के अन्य सभी पक्षों की तरह भाषा और इसके अन्य पक्षों से जुड़ाव पर सबसे सतर्क नजर मुक्तिबोध की है । इस समूचे प्रसंग में मुक्तिबोध द्वारा की गयी आलोचना निश्चय ही मानक है । उनकी दृष्टि के केन्द्र में समस्या की जड़ें हैं । `काम-सुख के उद्दीप्त स्मरण चित्र इतने सतत-गति, इतने प्रदीर्घ, इतने विस्तृत नहीं रह सकते - उनका अयन-क्रम इतना नहीं रह

---

6. रामविलास शर्मा - `कल्पना` (147), पृ० 76

सक्ता कि उनसे उमड़े भाव-समुदायों पर घंटों बात की जा सके । किन्तु, पुरुरवा और उर्वशी समुत्तेजित कल्पना द्वारा रति-सुख के क्षणों की ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं पर प्रदीर्घ वार्तालाप करते हैं, करते रहते हैं, मानो वाक्-सुख द्वारा देह-सुख प्राप्त करते हुए अदेह होना चाह रहे हों । यह कैसी विचित्रता है ।'[7] इस प्रसंग की विचित्रता को व्याख्यायित करते हुए वे देखते हैं कि यह भाषा अपने कथ्य से किस तरह जुड़ी है । वे इस बात पर बल देते हैं कि 'कवि के पास कहने के लिए सिर्फ एक बात है कि कामात्मक अनुभवों से आध्यात्मिक प्रतीति सिद्ध हो सक्ती है ।' यह कहने के लिए व्यापक आयोजन किया गया है । इस कथ्य को प्रस्तुत करने के लिए काम-सवेदना के अतिरेक की प्रस्तुति का सहारा अनिवार्य है । इस अतिरेक को बनाये रखने के लिए कल्पना को बार-बार समुत्तेजित करना पड़ता है । भावों की पुनरावृत्ति होती है । 'कामात्मक अनुभवों द्वारा आध्यात्मिक अनुभव की सिद्धि को प्रस्थापित करने के लिए लेखक को जिस अतिरेक के स्तर पर रहना पड़ता है, वही अतिरेक अस्वाभाविक होने के कारण, (क्योंकि इस प्रकार का कोई भी मनोरत्यात्मक अतिरेक दीर्घकालीन स्थिति नहीं रख सकता) प्रयास सिद्ध होने के कारण, वह भाषा को भी आयास-सिद्ध और जड़ बना देता है । कवि दिनकर के प्रथम उत्कर्ष काल में उसकी काव्य-भाषा ऐसी जड़ नहीं थी । उसमें स्वाभाविक रूमानी चपलता थी, स्वाभाविक गीतात्मक स्वर था ।'[8] कहना न होगा कि यही 'रूमानी चपलता' और 'स्वाभाविक गीतात्मकता उनकी व्यापक लोकप्रियता का मजबूत आधार थी, लेकिन इस लोकप्रियता के खो जाने के आसन्न संकट ने दिनकर को बलात्

---

7. मुक्तिबोध - 'कल्पना' (147), पृ० 37
8. वही, पृ० 38

वक्तृता की ओर मोड़ा । कालान्तर में यही वक्तृता, वाग्स्फीति बन कर सामने आयी और दिनकर की भाषा का सबसे बड़ा रोग बन गयी ।

दिनकर का काव्य एक जमाने में बहुत अधिक लोकप्रिय रहा है । उन की भाषा के प्रवाह और स्वर की उदात्तता की बहुत प्रशंसा की गयी है । इनकी कविता-यात्रा से गुजरते हुए कई-बार यह अहसास होने लगता है कि यह कवि सचमुच ओज और उदात्त की साधना में सफल है । लेकिन, कविता का किसी युग-विशेष में व्यापक जन-स्वीकृति पा लेना उसकी सार्थकता को प्रमाणित करने के लिए यथेष्ट नहीं है । सृजन एक बात है, जनता द्वारा इसका अभिग्रहण दूसरी बात । ये बातें परस्पर सम्बद्ध हैं, पर एक ही नहीं हैं । यह ध्यान में नहीं रखने से वे स्थितियां उपजती हैं जिनकी चर्चा उर्वशी की आलोचना के सन्दर्भ में क्षयी घटाटोप प्रशंसा या निन्दा के रूप में की गयी है । आदमी अभ्यास का गुलाम होता है। वह सहूलियत पसन्द होता है । यही कारण है कि जब एक बार वह किसी कवि या कविता के बारे में अपनी मान्यता निर्धारित कर लेता है तो उसे बदलने में उसे कष्ट होता है । बाद की प्रवृत्तियों का मेल उस पूर्व धारणा से है भी या नहीं, यह देखे-सोचे बगैर आलोचना की जगह निन्दा या प्रशंसा का अविराम प्रवाह चलता रहता है । यह प्रवाह अपनी सम्पूर्ण गतिमयता में जड़ होता है । साहित्य में ऐसे बहुत से उदाहरण मिल जाएंगे जिन्हें उनके युग की स्वीकृति नहीं मिल पायी, लेकिन कालान्तर में उनकी सृजनात्मक सार्थकता को शिद्दत से महसूस किया गया । या फिर इसके विपरीत ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो एक समय विशेष में तो खासे लोकप्रिय रहे, पर समय के बीतते ही खुद भी बीत गये । दिनकर को जिस तरह की कविताओं ने आरम्भिक दौर में लोकप्रियता दिलायी, वे उनके ही शब्दों में 'गर्जन-तर्जन' वाली कविताएं हैं । यह बात भी है कि इनकी दूसरी धारा की रचनाएं

भी उस जमाने में कम लोकप्रिय नहीं रही हैं । इस लोकप्रियता के आधार की खोज करते हुए हम विजयदेव नारायण साही की सहायता ले सकते हैं । उन्होंने दिनकर और उनके समानधर्मा कवियों के काव्य को 'खुमारी और जवानी' का काव्य कहा है । यह 'खुमारी' और 'जवानी' भाषा के स्तर पर भी अभिव्यक्ति पाती है । पर देखना यह है कि यह प्रवृत्ति कहाँ-कहाँ लोक-सम्वेदना से कवि के आन्तरिक विच्छेद को ढंक लेने का प्रयास करती है । जहाँ ऐसा नहीं है, वह अंश दिनकर की कविता-यात्रा का श्रेष्ठ अंश है ; इसमें सन्देह नहीं । तीसरे दशक की कविता की प्रवृत्तियों की व्याख्या करते हुए साही जी ने लिखा है कि 'दार्शनिक या आध्यात्मिक मुद्रा को, जो छायावादी अनुभूति की विशेषता थी, तीसरे दशक ने उतार फेंका, उसी के साथ उस गम्भीरता को भी, जो उसमें निहित थी । जो गम्भीरता को नहीं छोड़ सके, उनमें दार्शनिक मुद्रा या अनुभूति का स्थान दर्शन शास्त्र ने ले लिया... लेकिन दार्शनिक काव्यानुभूति में और दर्शन शास्त्र में अंतर है । गम्भीर होकर तीसरा दशक दार्शनिक की तरह बोलता है, कवि की तरह नहीं ।'[9] इस दार्शनिकता की व्याख्या के सन्दर्भ में पहले यह संकेत किया जा चुका है कि कवि अपने से पहले के दौर के 'महामानव' से अपने बाद के दौर के 'लघु मानव' की ओर चलता तो है, पर आधे विश्वास के साथ । इस आधे मन से चलने की सार्थकता को सत्यापित करने केलिए दर्शनशास्त्र की बहसों को अनपेक्षित विस्तार के साथ काव्य का अंश बना दिया जाता है । यह दर्शन शास्त्र इस कृति की भाषा को बेहद बोझिल और गतिहीन बनाता है । कवि संवाद शैली का सहारा लेकर इसे गति और नाटकीयता देना चाहता है, लेकिन प्रश्नों का सैद्धान्तिक स्वरूप, काव्यात्मकता और

---

9. विजय देव नारायण साही - छठवां दशक, पृ० 285

उसकी प्रवाहपूर्ण सहजता के विरुद्ध चला जाता है । दिनकर न केवल इन प्रश्नों के सैद्धान्तिक विवेचन में खोये हैं अपितु इस खास किस्म की भाषागत विवशता से उन्हें व्यक्तिगत स्तर पर मोह भी है । इसीलिए खास तरह के शब्द चयन का सामना होता है, मुहावरों को बदल दिया जाता है या कुछ ऐसे ही विचित्र प्रयोग किये जाते हैं । मुहावरे सामाजिक स्वीकार से आकार पाकर निश्चित भाव समूह को अभिव्यक्ति देने वाले सांस्कृतिक संकेतक हैं । इनमें भाषा के स्तर पर किया गया परिवर्तन कई जटिल प्रश्नों को जन्म देता है । ये विशेष अर्थों में रूढ़ होते हैं । अत: इनके प्रयोग का उचित सन्दर्भ नहीं होने पर अर्थ का अनर्थ होने की संभावना बनी ही रहती है । `द्वन्द्वगीत` पर टिप्पणी करते हुए हिन्दी के प्रख्यात कवि त्रिलोचन ने इससे जुड़े संकटों को स्पष्ट किया है । द्वन्द्वगीत से एक उदाहरण सामने रखकर वे लिखते हैं -`मुहावरा है - मीन मेख निकालना । उसका इतना परिवर्तन किया गया कि मीन या मेष गिनना हो गया । मीन मेष को अलगाने के लिए बीच में `या` रख देने से एक अद्भुत अर्थ की सृष्टि हो जाती है - मछलियों या बकरों की गिनती । उस स्वच्छन्दता का क्या उपयोग, यदि उसके व्यवहार से अर्थ-विपर्यय होता है ?`[10]

दर्शन और काव्य के सम्बन्ध और भाषा के स्तर पर इससे प्राप्त संगतियों या विसंगतियों की चर्चा करते हुए मुक्तिबोध की मान्यता यह है कि -`शास्त्रीय दर्शन, जो तर्क के सहारे मूल सत्ता का व्याख्यान करता है, अन्य दार्शनिक धाराओं का खण्डन करता है, मनुष्य के परम लक्ष्य का बोध करता है तथा मूल्य-व्यवस्था प्रस्तुत करता है, वह शास्त्रीय दर्शन अपनी शास्त्रीय दृष्टि के कारण, शास्त्रीय रूप में काव्य में प्रस्तुत नहीं हो सकता।

---

10. त्रिलोचन -`काव्य और अर्थ-बोध`, पृ० 136

काव्य में किसी प्रकार की शास्त्रीयता अपने शास्त्रीय रूप में नहीं चल सकती, किन्तु उस दर्शन के तात्विक निष्कर्ष तथा मूल स्थापनाएं काव्य में ग्रहण कर ली जाती हैं।'[11] इस प्रसंग में मध्ययुगीन भारतीय साहित्य के एक भाग तथा 'ज्ञानेश्वरी' को उदाहरण के रूप में सामने रखने के बाद वे बताते हैं कि दर्शन की कुछ स्थापनाएं कवि अपनी मूल भाव-धारा में अनायास ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार वह कवि के आभ्यंतर सम्वेदनात्मक ज्ञान का अंग बन जाता है। अथवा, यह भी होता है कि जीवन-समस्याओं का काव्यात्मक चित्रण करते हुए, लेखक अनायास उन समस्याओं के निराकरण का मार्ग बताता है। यह निराकरण का मार्ग ही उसका दर्शन है (कामायनी में ऐसा हुआ है।)। यह भी संभव है कि अपनी किसी विशेष प्रवृत्ति की औचित्य-स्थापना के लिए लेखक दर्शन का सहारा ले (जैसा कि उर्वशी में हुआ है।) यह भी संभव है कि कोई दर्शन कवि को विश्व स्वप्न प्रदान करे और वह विश्व-स्वप्न उसकी अनुभूति का अंग बन जाय। इस प्रकार का दर्शन कवि के भावना के नेत्र बन जाता है।' इस तरह दर्शन का अभिग्रहण, काव्य को दार्शनिक शास्त्रीयता से मुक्त रखता है। लेकिन दिनकर महज परिणतियों को प्रस्तुति का आधार बनाकर संतुष्ट नहीं होते। उन तक पहुंचने की प्रक्रिया-गत जटिलता को अपनी पूरी वर्णनात्मकता में उपस्थित करके अपनी महत्वपूर्ण भूमिका को भी स्पष्ट कर ही देना चाहते हैं। उनका व्यक्तिवाद उन की भाषा में दिखाई देने वाली विसंगतियों का मूल कारण है। उस कवि व्यक्तित्व का निर्माण निश्चित पुरुष-वर्चस्ववादी संस्कारों और स्त्री के प्रति अधिकारवादी मनोवृत्ति से मिलकर हुआ है। यही कारण है कि औरत उनकी भाषा में देह का प्रतिस्थानापन्न बन गयी है। पंक्तियाँ

---

11. मुक्तिबोध - 'कल्पना' (147), पृ० 34

प्रमाण हैं --

'पर, ये चित्र अचिर ; भौहों के धनुष सिकुड़ जायेंगे,
छूटेगी अरुणिमा कपोलों के प्रफुल्ल फूलों की ।
और वक्ष पर जो तरंग यौवन की लहराती है,
पीछे समतल छोड़ जरा में जाकर खो जाएगी ।

+ +

इसीलिए, कहती हूं, जब तक हरा-भरा उपवन है,
किसी एक के संग बांध लो तार निखिल जीवन का ;
न तो एक दिन वह होगा जब गलित, म्लान अंगों पर
क्षण भर को भी किसी पुरुष की दृष्टि नहीं विरमेगी ;
बाहर होगा विजन निकेतन, भीतर प्राण तर्जेंगे
अन्तर के देवता तृषित भीषण हाहाकारों में ।'[12]

त्रिलोचन जी की इस टिप्पणी से असहमति का कोई कारण नहीं है कि 'जहाँ दिनकर के अहं को ठेस लगी कि वे समाज की मंगल-कामना कहाँ तक लिये रह सकेंगे, यह संदिग्ध है ।'[13] यह सन्देह 'उर्वशी' के प्रसंग में भी उतना ही वाजिब है जितना 'द्वन्द्वगीत' के सन्दर्भ में । उर्वशी के मिथक पर विचार करते हुए हमने देखा है कि किस तरह उसकी शक्ति के सन्दर्भों की आधुनिक व्याख्या में दिनकर विफल रहे हैं । वे नारी को एक हद से अधिक स्वतंत्र देखकर क्षत दर्प होते हैं । उन्हें यह स्थिति स्वीकार्य नहीं है कि नारी बराबरी का हिस्सा मांगे, सिद्धान्ततः भी नहीं । नारी उनकी दृष्टि में देह है और उस देह का नष्ट होना नारी का नष्ट हो जाना है ।

---

12. दिनकर -'उर्वशी', पृ० 84-85
1. त्रिलोचन -'काव्य और अर्थ-बोध', पृ० 137

वैसे उन्होंने देह की सीमाओं के उस पार वाली नारी की चर्चा बहुत की है, पर वह सब महज़ खाम खयाली है । आधार रूप में वही चिंता है जिस की ओर संकेत करते हुए त्रिलोचन ने लिखा है -'नारी-देह को लेकर इसमें उसकी भविष्य-दशा की वही आशंकामय कल्पना चित्रित है जैसी एक पूंजीपति अपने साम्पत्तिक पतन की आशंका से विचार-विमूढ़ होकर करता है ।'[14] उन्होंने द्वन्द्वगीत से उद्धरण दिया है जो प्रस्तुत सन्दर्भ में दिये गये उर्वशी के उद्धरण की पूर्वकृति की तरह है --

'दो कोटर को छिपा रही मदमाती आखें लाल सखी
अस्थि-तन्तु पर ही तो हैं ये खिले कुसुम से गाल सखी
और कुचों के कमल ? झड़ेंगे ये तो जीवन से पहले
कुछ थोड़ा सा मांस प्राण का छिपा रहा कंकाल सखी ।'[15]

इस तरह हम देखते हैं कि दिनकर अपने भोक्ता व्यक्तित्व और कर्ता व्यक्तित्व के बीच के भेद और सृजन के संदर्भ में इस भेद की धनात्मक संगतियों का सही संयोजन करने में सक्षम नहीं हैं । व्यक्ति की जीवन-भाषा साहित्य बनने की योग्यता पाने के लिए जो संघर्ष करती है, उसके बिना ही दिनकर की भाषा कविता बन जाने को उद्यत है ।

तीसरे दशक के आसपास सक्रिय आलोचनात्मक चेतना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए विजयदेव नारायण साही ने लिखा है -'कवि को कवि नहीं दार्शनिक होना चाहिए, यह मान्यता काफी प्रचलित हुई और आलोचकों ने अपनी सुविधा के लिए इसको काफी बढ़ावा दिया - क्योंकि

---

14. त्रिलोचन -'काव्य और अर्थ-बोध', पृ० 137
15. दिनकर -'द्वन्द्वगीत', पृ०

काव्य में उदाहृत दर्शन शास्त्र पर आस्फालन करना आसान काम है, काव्यानुभूति की छानबीन में गलती की गुंजाइश ज्यादा है ।'[16] यह आलोचकीय वृत्ति महज कविता की आलोचना में सक्रिय हो, ऐसा नहीं है । यह जीवन की आलोचना में सक्रिय थी जो सृजन की आधारशिला है । अत: दिनकर जैसे कवि की कृतियाँ दार्शनिक अनुभूति पर आधारित सृजन न होकर दर्शन शास्त्र बन गयीं । इस दर्शन का आधार 'मन का विभाजन' है । यह विभाजन साही जी के अनुसार इस युग की सामान्य विशेषता है । 'चित्रलेखा' के बीजगुप्त और 'मधुशाला' के यात्री का उदाहरण उन्होंने दिया है । हम बिना किसी कठिनाई के दिनकर के पुरुरवा को इस पांत में खड़ा कर सकते हैं । यहाँ यह मानकर चलना होता है कि आदमी का एक ऊपरी रूप है, दूसरा उसका आन्तरिक रूप है । पुरुरवा के यहाँ यह देह और मन का तल है । 'ऊपरी कलेवर' का सम्बन्ध ज्ञान, आदर्श, मर्यादा और सामाजिक नियमों से है । किन्तु, यह कलेवर क्रूर जड़ और कठोर है । 'असली मनुष्य' तो भीतर धड़कते दिल में है । दिनकर बार-बार देह का तल छोड़ कर मन के तल में जाने की बात करते हैं । यह देह भी मनुष्य के मन में ही बैठी है । इस देह से मुक्त हो पाना इनकी सबसे बड़ी साध है । यह इसलिए कि देह को स्वीकार करके ईमानदारी और सहजता की ओर बढ़ना बहुत कठिन है । अत: यहाँ 'ईमानदारी और सहजता का आधार मनुष्य के आदर्श, लक्ष्य या मर्यादाएं नहीं हैं, बल्कि उसका हृदय है । स्वभावत: हृदय और बुद्धि, प्रेम और मर्यादा के बीच एक दीवार खड़ी मिलती है ।'[17] यह दीवार दिनकर के लिए वह

---

16. विजय देव नारायण साही - छठवां दशक, पृ० 235

17. वही, पृ० 287

प्रश्न है जिसका कोई उत्तर नहीं है --

'फिर दिशाएं मौन
फिर उत्तर नहीं है ।'[18]

उत्तर नहीं है तो इसलिए कि उत्तर की तलाश की गम्भीरता को, उसके महत्व को, स्वीकारने का साहस नहीं है । एक निश्चित पलायनवादी मनोवृत्ति के तहत एक आशा आकार लेती है जो सर्जक का 'अरमान' है ।

'एक ही आशा, मरुस्थल की तपन में
औ सजल कादम्बिनी । सिर पर तुम्हारी छाँह है ।
एक ही सुख है, उर स्थल से लगा हूं,
ग्रीव के नीचे तुम्हारी बाँह है ।

+ +

इस प्रफुल्लित प्राण-पुष्पों में मुझे शाश्वत शरण दो,
गन्ध के इस लोक से बाहर न जाना चाहता हूं ।
मैं तुम्हारे रक्त के कण में समाकर
प्रार्थना के गीत गाना चाहता हूं ।'[19]

कवि के तमाम प्रयासों के बावजूद यह 'अरमान' पूरा नहीं होता है क्योंकि यह जीवन की मांग के विपरीत है । उसे न चाहते हुए भी 'गन्ध-लोक' से बाहर आना ही पड़ता है । साही जी का सवाल यह है कि 'क्या मनुष्य को हम 'उद्देश्य' में विसर्जित होते हुए देखते हैं ? क्या हम उसे 'नीयत'

---

18. दिनकर -'उर्वशी', पृ0 42
19. वही, पृ0 42

द्वारा परिचालित होते हुए देखते हैं ? उद्देश्य में विसर्जित होता हुआ मनुष्य 'महान्' है । नीयत द्वारा परिचालित होता हुआ मनुष्य साधारण क्या नीयत और उद्देश्य एक ही वस्तुएं हैं, या दो ? यही एक प्रश्न उस काल के समस्त साहित्य में प्रेत की तरह मंडराता है । उनकी पीड़ा और उनका सुमार इसमें है कि उन्हें कुछ दूर तक ये एक ही दिखलाई पड़ती हैं, लेकिन बाद में दो हो जाती हैं । वे देखते हैं कि ये दो वस्तुएं हैं, लेकिन मेधा से, आवेश से, सुमारी से, यौवन से, रोकर, आंख मूंद कर, जैसे हो इस द्वयता को कूद जाना चाहते हैं ।[20] साही जी ने पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह बात सिद्ध की है कि इस युग के साहित्य का काम 'मुख्यत: मानसिक लहर को 'मोटिव' से समन्वित करके मुक्त और स्वच्छन्द वेग प्रदान करना है । उद्देश्य पर आधारित मर्यादाएं जिसको बन्धन स्वरूप जान पड़ती हैं । इस प्रकार 'नीयत की खोज हुई जिसकी सहजता ने और इस प्रवाह की उद्दामता ने इस काव्य को लोकप्रिय बनाने में निश्चित भूमिका निभायी किन्तु वह अटल प्रश्न तब भी बना रहा : क्या नीयत और उद्देश्य एक ही वस्तुएं हैं ।'[21] छायावाद के पास इसका निश्चित स्वीकारात्मक उत्तर था, पर तीसरे दशक के पास इसका स्पष्ट उत्तर नहीं है, इसलिए 'स्यात' यहाँ स्थायी भाव बन गया है । इस 'शायद' से बचने के लिए जरूरी है कि दूसरी उपलब्धियों को विस्तारित-प्रसारित किया जाय ताकि उनके होने को न्यायसंगत बताया जा सके । अत: स्फीति सहज उपपत्ति है । इस प्रकार छायावाद में जो संकल्पात्मक अनुभूति, अंतर्ध्वनित सत्य है, वह तीसरे दशक में 'अरमान' बन कर रह जाती है । रहस्यानुभूति, आनन्दानुभूति,

---

20. विजयदेव नारायण साही -'छठवां दशक', पृ० 287

21. वही, पृ० 290

शौर्यानुभूति, वेदनानुभूति, तमाम अनुभूतियाँ अरमानों के धरातल पर घटित होती हैं ।[22] इस तरह इस युग की साहित्य-संस्कृति का बीज शब्द है - `अरमान` । दिनकर के यहाँ और खास तौर पर `उर्वशी` में नीयत और उद्देश्य को एकीभूत करके प्राप्त किया गया `अरमान` असल में जीवन-जगत के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होने के लिए अपेक्षित पलायन-वेग (एस्केप वेलॉसिटी) है । एक बार इस आकर्षण के प्रभाव से मुक्त हुए तो फिर आध्यात्मिक मुक्ताकाश में बंधे-बंधाये परिपथ पर जीवन-यथार्थ से निश्चित दूरी पर स्थित रहकर विचरण करते रहना कितना आसान हो जाता है । `उर्वशी` इसी परिक्रमा की भाषा है । ऐतिहासिकता और मिथक के सन्दर्भ में हुए विमर्श को देखते हुए इस बात को हम पहले देख चुके हैं कि यह भाषा अपनी संरचना में जीवन-भाषा से कितनी अलग है ।

भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र न होकर स्वयं अभिव्यक्ति है । अभिव्यक्त वही होता है जो अनुभूत है । अनुभूति कितनी और कैसी है, इस पर अभिव्यक्ति का महत्व निर्भर है । इसकी सही परख के क्रम में मुक्तिबोध कवि के `संवेदनात्मक ज्ञान` और `ज्ञानात्मक संवेदन` तक पहुंचते हैं । यह ज्ञान-सम्वेदना जीवन की आलोचना से उपजती है । जीवन आलोचना का विषय ही नहीं, उसका क्षेत्र भी है । साहित्यकार के होने का मतलब ज्ञानात्मक-सम्वेदन और सम्वेदनात्मक ज्ञान तक उसकी पहुंच का होना है । इस क्रम में निश्चय ही वह अपने व्यक्तित्व की शक्तियों और सीमाओं से प्रभावित होता है । पर उसकी यह जीवन-भाषा व्यापक सामाजिक जीवन की भाषा से मिलती और टकराती हुई जो नया आकार-प्रकार पाती है,

---

22. विजयदेव नारायण साही - `छठवां दशक`, पृ० 290

उसमें उसकी चयनधर्मी आलोचकीय बुद्धि की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । न केवल अपनी परिणतियों में बल्कि आशाओं, आकांक्षाओं, सपनों में भी उसकी इस आलोचना का पता पाया जा सकता है । जीवन-क्षेत्र में रहना लोक-सम्वेदना से साहित्यकार के आन्तरिक सम्बन्ध को सम्भव बनाता है । यहाँ होने से जीवन-जगत की संभावनाओं और सीमाओं की सही पहचान बनती है और यही पहचान, प्रेम का धरातल प्राप्त कर, जब अभिव्यक्ति पाती है - सृजन कहलाती है । इस तरह आलोचना पूर्व वर्ती मूल्य-प्रणाली की जड़ता को तोड़ कर एक नयी मूल्य-व्यवस्था कायम करती है, एक नयी भाषा का निर्माण करती है । यह एक प्रक्रिया है, सातत्य इसका धर्म है । जब कभी रचनाकार व्यापक लोक-चेतना से अपने आन्तरिक सम्बन्ध तोड़ लेता है या उसका यह सम्बन्ध टूट जाता है, तब वह नयी भाषा की प्रकृति की पहचान नहीं कर पाता । व्यक्ति-भाषा का सीमित वृत्त उसकी सृजनात्मक संभावनाओं को संकुचित करता हुआ अंतत: समाप्त कर देता है । ऐसी परिस्थिति में कलम अभ्यासवश चला करती है । अत: पुनरावृत्तियाँ रचना का स्वभाव बन जाती हैं । ये पुनरावृत्तियाँ भावों, सम्वेदनाओं, किसी खास तरह के शब्दों या वाक्य-विन्यास, छन्दों आदि की हो सकती हैं । और भी गहरे स्तर पर रचना के आन्तरिक राग की भी पुनरावृत्ति सम्भव है । यहीं भाषा में एक और भी प्रवृत्ति दिखाई देने लगती है । यह स्फीति की प्रवृत्ति है । यह एक भयानक गतिरोध की स्थिति है । इसके कारणों पर विचार करते हुए विजयदेव नारायण साही लिखते हैं कि 'साहित्यकार में एक सहज मानवीय सम्वेदना होती है जो लोक-जीवन में व्याप्त विषाद, खिन्नता, पीड़ा और कातरता को ग्रहण करके उसे वाणी देती है । समाज में चाहे जितना संकट हो, साहित्य में संकट तभी आता है जब साहित्यकार वेदना को आत्मसात् करने में असमर्थ हो जाता है, जब उसका लोक-सम्वेदना

से आन्तरिक विच्छेद हो जाता है, जब उसकी सामाजिक जड़ें उखड़ जाती हैं और जब वह एक छोटे दायरे में सिमट जाता है ।'[23] यही वह स्थिति है जब उसे काव्यात्मक स्थिति के बाहर जाकर भी सोचना पड़ता है । ठीक इसी स्थिति का सामना करते हुए दिनकर को देख कर मुक्तिबोध ने लिखा है कि 'उन्हें काव्यात्मक स्थिति के बाहर जाकर भी सोचना पड़ता है । इसीलिए भाषा में बौद्धिक गुण हैं, चित्र-विचित्र प्रयोग हैं । शब्दों की तोड़-मरोड़ है, ठूँस-ठाँस है । भाषा का अनायास प्रांजल, निर्मल, सरल, चपल प्रवाह देखने को भी नहीं मिलता है । भाषा भी समारोहपूर्वक चलती है, वृहत् आयोजन के साथ । इसीलिए उसकी प्रदीर्घ पंक्तियों में सांस्कृतिक ध्वनियों और प्रतिध्वनियों का निनाद है और बहुत से स्थानों पर अर्थ की वायवीय शून्यताएं हैं ।'[24] सृजनात्मक भाषा की अनिवार्य शर्त सहजता है । भाषा का अभिव्यक्ति में चूकना गलती है, यह सहज भी हो सकती है । पर यहाँ स्थिति बिलकुल भिन्न है । जीवन से दूर हो जाने के कारण समस्याओं की समझ के अपेक्षित विकास के अभाव में अनुभूति के स्तर पर ही खोट है । इस खोट को भाषा की स्फीति से ढंकना एक बड़ी गलती है । कामात्मक ऐकान्तिक क्षणों की आत्मीयता का स्वर भाषा से गायब है । वहां प्रदर्शन प्रधान उद्देश्य बन गया है । अत: स्वर इतना तीव्र हो जाता है कि रति-कक्ष की 'कथा-वार्ता' गली-कूचों में

---

23. विजयदेव नारायण साही - 'छठवां दशक', पृ0 25
24. मुक्तिबोध, 'कल्पना' (147), पृ0 40

गूंजने लगती है । यह नैतिकता के विरुद्ध उतना नहीं जितना सहजता के विरुद्ध है । `महान` के धरती पर आने की प्रक्रिया में - सहज होने में, यह एक बड़ी बाधा है । दिनकर अपनी ऐतिहासिक उपस्थिति से इस बात को प्रमाणित करते हैं ।

उपसंहार

इस तरह प्रस्तुत विमर्श से गुजर कर हमने देखा कि 'उर्वशी' को ले कर हुई बहस में आलोचकीय प्रवृत्तियों की तीसरी धारा सबसे महत्वपूर्ण साबित होती है । यह वही धारा है जिसकी आलोचना के केन्द्र में कृति है । लेखक का व्यक्तित्व कृति को आकार देने में निश्चित भूमिका निभाता है, लेकिन वह एक अलग सत्ता है । अत: किसी भी एक गुण या अवगुण के बारे में यह कहना निरर्थक है कि चूंकि यह लेखक में है अत: कृति में होगा ही । वैसे ही इस बात की अपेक्षा लेकर चलना भी गलत है कि यदि कृति किसी खास गुण या अवगुण का प्रमाण देती है तो अनिवार्यत: वह लेखक के व्यक्तित्व का हिस्सा होंगे । पाठ में उपलब्ध संकेतों के आधार पर की गयी आलोचना ही आलोचना का सही स्वरूप प्रस्तुत कर सकती है । लेखक के व्यक्तित्व के प्रभावों को समझने के लिए समूचे सामाजिक सन्दर्भ में उसकी उपस्थिति और रचना की स्थिति के बीच सम्बन्धों की व्याख्या की अपेक्षा होगी जो बहुत बार अवान्तर प्रसंगों की ओर ले जाएगी ।

ऐतिहासिकता के सवाल को समझने के क्रम में निष्कर्ष यह प्राप्त होता है कि आलोचना के आधार के रूप में काल के किसी एक आयाम को लेकर चलना अपेक्षित व्याख्या देने में असमर्थ है । काल के तीनों आयामों - केन्द्रित कालबद्धता, ऐतिहासिकता और सार्वभौमिकता के परिप्रेक्ष्य में कृति का मूल्यांकन करके ही हम उसकी काल-जीविता और काल-जयिता की परीक्षा कर सकते हैं । सृजन की प्रक्रिया की आलोचना के लिए यह आवश्यक है कि हम जीवन की काल-सापेक्ष गति के आकलन में समर्थ हों । काल के त्रिविध आयामों का आधार लेकर ही हम इसकी परीक्षा कर सकते हैं ।

हमने यह भी पाया कि साहित्य के चलने और रुकने के अपने नियम हैं । ये नियम सामाजिक नियम-विधान से अपने निश्चित सम्बन्धों के बावजूद अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते हैं । इन नियमों के तहत आकार पाते हुए साहित्य का स्वाधीन व्यक्तित्व होता है । अत: साहित्येतर प्रतिमानों के आधार पर साहित्य की आलोचना का प्रयास अनिवार्यत: गलत दिशाओं में भटक जाता है, निष्फल होता है ; कई बार घातक भी । साहित्य एक विशिष्ट कला है और मार्क्स ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि कला का आनन्द उठाने के लिए आवश्यक है कि आदमी कलात्मक रूप से सुसंस्कृत हो । कला की आलोचना के लिए ये संस्कार अनिवार्य हैं । इस अनुशासन के बिना अन्य ज्ञान-संभागों में अनुशासित होकर भी कला की और साहित्य की आलोचना का प्रयास न सिर्फ अपने लिये बल्कि कला के लिए भी घातक है ।

उर्वशी के मिथक के सन्दर्भ में विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि दिनकर के यहां इस मिथक की आधुनिक संभावनाओं की समझ के प्रमाण नहीं मिलते हैं । यही कारण है कि नारी-स्वाधीनता के प्रसंग में उनकी यह कृति चिराचरित व्यवस्था के सांस्कृतिक सूत्रों का पुनराख्यान ही करती है । काल-सापेक्ष स्थिति के कारण `उर्वशी` से इस सन्दर्भ में जो अपेक्षाएं जगती हैं, वे आधुनिक चेतना के अभाव के कारण अधूरी ही रह जाती हैं । कालिदास के यहाँ यह वर्णन मिलता है कि असुरों के आक्रमण के भय से आतंकित स्वर्ग ने उर्वशी को पुरुरवा के यहाँ भेज दिया । यद्यपि राजनीतिक संयोग का आश्रय लेकर पाया गया यह निदान सर्वत: संतोष-जनक नहीं है, फिर भी इसमें एक संभावना तो है ही । दिनकर के यहाँ यह संभावना भी काम और अध्यात्म के दार्शनिक ऊहापोह में खो जाती है । ऐसे में आजकल की एक चालू बम्बइया फिल्म का उर्वशी के नाम

यह संदेश अपने अकिंचन बचकानेपन में सार्थक प्रतीत होता है - 'टेक इट ईजी, उर्वशी !'

भाषा का सवाल कथ्य के प्रति लेखक की अनुभूति के खरेपन से जुड़ा है और हम पाते हैं कि दिनकर अपेक्षित चिंतन-दिशा के अभाव में वह भाषा नहीं पा सके हैं जो उर्वशी जैसी चुनौती को झेलने के लिए आवश्यक है। यही नहीं, वे इस अभाव को महसूस करते हुए लगातार एक ऐसी दिशा में बढ़ते चले गये हैं जो नितान्त अनपेक्षित है। इस सन्दर्भ में दूसरी महत्व-पूर्ण बात यह है कि सहज सम्प्रेषण के लिए विषय और लेखक के बीच के सम्बन्धों की प्रगाढ़ता से कम जरूरी लेखक और पाठक के बीच के सम्बन्धों की सांद्रता भी नहीं है। इस लिहाज से देखने पर यह दिखाई देता है कि दिनकर अपने पाठक की चेतना, उसकी समझदारी पर अपेक्षित भरोसा नहीं रख पाते। इसी कारण वे अपनी बातों को आवश्यकता से अधिक देर तक समझाने की चेष्टा करते दिखाई देते हैं और उनकी भाषा स्फीति का शिकार हो जाती है। बहरहाल, उनकी आलोचना में भगवतशरण उपाध्याय द्वारा उपयोग में लायी गयी भाषा भी उन्हीं कमजोरियों से दबी है जो दिनकर के यहाँ हैं। इसका सबसे प्रधान कारण दिनकर के व्यक्तित्व के प्रति उनका निजी आक्रोश है।

'उर्वशी'-विवाद का महत्व इस बात में है कि वह हिन्दी-साहित्य के इतिहास के एक विशिष्ट दौर में सृजन की शक्ति और सीमा के सही आकलन का आधार प्रस्तुत करता है। आलोचना की नयी मूल्य-प्रणाली विकसित करता है, आलोचना की नयी भाषा का निर्माण करता है।

परिशिष्ट

1.	अज्ञेय	स्मृति लेखा नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 तीसरा संस्करण, 1993
2.	ए0टी0 एम्ब्री	सोर्सेस आफ इण्डियन ट्रेडिशन पेंग्विन बुक्स लिमिटेड बी 4/246, सफदरजंग एन्क्लेव नई दिल्ली - 110029 दूसरा संस्करण, 1992
3.	के0 दामोदरन	भारतीय चिन्तन परम्परा पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस तीसरा संस्करण, 1982
4.	ग0 मा0 मुक्तिबोध	मुक्तिबोध रचनावली सम्पादक - नेमिचन्द्र जैन राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0 8, नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली-110002 वर्तमान संस्करण - 1985
5.	जयशंकर प्रसाद	कामायनी प्रसाद-प्रकाशन, गोवर्द्धन सराय वाराणसी-10, आवृत्ति 1989

6. दिनकर

उर्वशी
लोक भारती प्रकाशन,
15 ए, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद - 1
वर्तमान संस्करण - 1992

चक्रवाल
उदयाचल प्रेस,
पटना - 800016

द्वन्द्वगीत
उदयाचल प्रेस,
पटना - 800016

रश्मिरथी
उदयाचल प्रेस,
पटना - 800016

7. नामवर सिंह

कविता के नये प्रतिमान
राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०
दिल्ली-6
प्रथम संस्करण - 1968

8. डी० डी० कोशाम्बी

मिथ एण्ड रियलिटि
पापुलर प्रकाशन
बम्बई - 400034
वर्तमान संस्करण - 1994

9. रवीन्द्रनाथ ठाकुर — रवीन्द्रनाथ की कविताएं
साहित्य अकादमी,
रवीन्द्र भवन,
35, फीरोजशाह मार्ग
नई दिल्ली-110001

10. रेमण्ड विलियम्स — की वर्ड्स
फॉन्टाना प्रेस,
हार्पर कालिन्स पब्लिशर्स
77-85 फुलहान पैलेस रोड, लन्दन
वर्तमान संस्करण - 1988

11. रोलां बार्थ — माइथालाजीज
पलादीन बुक्स,
ग्रेनाडा पब्लिशिंग लि0
8/ग्राफ्टन स्ट्रीट, लन्दन
वर्तमान संस्करण - 1985

12. विजयदेव नारायण साही — छठवां दशक
हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण - 1987

13. शंभुनाथ — मिथक और आधुनिक कविता
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
23, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

14. सावित्री सिन्हा — दिनकर
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा0 लि0
2/38, अंसारी मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-110002